58/3-4

अनेकान्त

विकसित नील कमल दल सम
हैं जिनके सुन्दर नेत्र विशाल
शरदचन्द्र शरमाता जिनकी
निरख शांत छवि, उन्नत भाल
चम्पक पुष्प लजाता लख कर
ललित नासिका सुषमा धाम
विश्ववंद्य उन गोम्मटेश प्रति
शत-शत बार विनम्र प्रणाम

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में-

कहाँ/क्या?

वर्ष 58 किरण 3 4

जुलाई-दिसम्बर 2005

सम्पादक

डॉ जयकुमार जैन

429, पटेल नगर

मुजफ्फरनगर (उ प्र)

फोन (0131) 2603730

सह सम्पादक

संजीव जैन

परामर्शदाता :

पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

संस्था की आजीवन सदस्यता 1100/-

वार्षिक शुल्क 30/-

इस अंक का मूल्य 10/-

सदस्यों व मंदिरों के लिए नि:शुल्क

प्रकाशक :

भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक .

मास्टर प्रिन्टर्स, दिल्ली-32

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक उनके विचारों से सहमत हो।

वीर सेवा मंदिर

(जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 23250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अंतर्गत आयकर में छूट

(रजि. आर 10591/62)

गोम्मटेस-थुदि

(1) विसट्ट - कंदोट्ट - दलाणुयारं, सुलोयणं चंद-समाण-तुण्डं।
घोणाजियं चम्पय-पुप्फसोहं, तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं।

(2) अच्छाय-सच्छं जलकंत-गंडं, आबाहु-दोलंत सुकण्णपासं।
गइंद-सुण्डुज्जल-बाहुदण्डं, तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं।।

(3) सुकण्ठ-सोहा-जियदिव्वसंखं, हिमालयुद्दाम-विसाल-कंधं।
सुपेक्ख-णिज्जायल-सुट्ठुमज्झं, तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं।।

(4) विज्झायलग्गे-पविभासमाणं, सिहामणि सव्व-सुचेदियाणं।
तिलोय-संतोलय-पुण्णचंदं, तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं।।

(5) लयासमक्कंत - महासरीरं, भव्वावलीलद्ध - सुकप्परुक्खं।
देविंदविंदच्चिय पायपोम्मं, तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं।।

(6) दिर्दंबरो यो ण च भीइ जुत्तो, ण चांबरे सत्तमणो विसुद्धो।
सप्पादि-जंतुप्फुसदो ण कंपो, तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं।।

(7) आसां ण सो पेक्खदि सच्छदिट्ठि, सोक्खे ण बंछा हयदोसमूलं।
विरायभावं भरहे विसल्लं, तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं।।

(8) उपाहिमुत्तं धण-धाम-वज्जियं, सुसम्मजुत्तं मय - मोहहारयं।
वस्सेय पज्जंतमुववास - जुत्तं, तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं।।

—आचार्य नेमिचन्द्र 'सिद्धान्त चक्रवर्ती'

सम्पादकीय

तीर्थकर ऋषभदेव इस हुण्डावसर्पिणी काल में प्रथम राजा, प्रथम केवली तथा प्रथम तीर्थकर थे। ऋषभदेव जब युवा हुए तो पिता नाभिराय ने इन्द्र की सम्मति से कच्छ एवं महाकच्छ महाराज की बहनें यशस्वती और सुनन्दा से उनका विवाह करा दिया। ऋषभदेव को रानी यशस्वती से भरत आदि निन्यानवे पुत्र एवं ब्राह्मी नामक पुत्री की प्राप्ति हुई तथा दूसरी रानी सुनन्दा से बाहुबली नामक पुत्र एवं सुन्दरी नामक पुत्री की प्राप्ति हुई। राजा ऋषभदेव ने ब्राह्मी एवं सुन्दरी को क्रमशः अंकविद्या एवं लिपिविद्या का ज्ञान कराया तथा पुत्रों को सर्वविद्याओं का ज्ञान कराया। राज्य करते हुए राजा ऋषभदेव का समय सुखमय बीत रहा था कि नृत्यांगना नीलांजना की नृत्य-काल में मृत्यु तथा इन्द्र द्वारा पुनः वैसी ही नृत्यांगना उपस्थित करने के छल को उन्होंने आत्मबोध माना। उनके हृदय में यहीं से वैराग्य का अंकुरण होने लगा। उन्होंने विचार किया–

'कूटनाटकमेतत्तु प्रयुक्तममरेशिना।
नूनमस्मत्प्रबोधाय स्मृतिमाधाय धीमता।।'

(आदिपुराण, 17/38)

राजा ऋषभदेव ने राज्यावस्था में ही अपने पुत्रों को यथायोग्य राज्य प्रदान कर दिया था। उन्होंने भरत को अयोध्या का और बाहुबली को पोदनपुर (तक्षशिला) का राजा प्रदान किया था। भरत चक्रवर्ती थे और बाहुबली कामदेव। चक्रवर्ती होने से भरत ने भूमण्डल की दिग्विजय यात्रा की। दिग्विजय यात्रा के समापन पर जब चक्ररत्न अयोध्या के बाहर ही रुक गया तब विशिष्ट ज्ञानियों ने बताया कि जब तक सभी भाई आपकी आधीनता स्वीकार नहीं कर लेंगें तब तक दिग्विजय यात्रा पूरी नहीं समझी जा सकती है। इसी कारण चक्ररत्न अवरुद्ध हो गया है। भरत ने सभी भाईयों के पास अपनी आधीनता-विषयक सन्देश भेजा। बाहुबली को छोड़

अन्य सभी भाई समस्या का हल पूछने भगवान् ऋषभदेव के पास गये। भगवान् के उपदेश से उन्होंने दिगम्बर दीक्षा धारण करली और आत्मकल्याण का मार्ग अपना लिया।

बाहुबली भरत के आधीनता-विषयक सन्देश से आन्दोलित हो उठे। भरत ने बाहुबली के समीप निःसृष्टार्थ दूत भेजा, किन्तु उसके साम, दाम, दण्ड, भेद रूप सभी प्रयास असफल हो गये। बाहुबली ने भरत की आधीनता यह कहकर स्वीकार नहीं की कि भरत अपने पूज्य पिताजी द्वारा दी गई हमारी पृथिवी को छीनना चाहता है। बाहुबली विचार करने लगे–

'वरं वनाधिवासोऽपि वरं प्राणविसर्जनम्।
कुलाभिमानिनः पुंसो न पराज्ञाविधेयता।।'

(आदिपुराण, 35/118)

परिणामस्वरूप दोनों ओर से सेनाये युद्धक्षेत्र में सन्नद्ध हो गई। दोनों पक्ष के चतुर मन्त्रियों ने विचार किया कि दोनों ही भाई चरमशरीरी हैं। अतः इनका तो कुछ बिगड़ेगा नही। व्यर्थ में दोनों ही पक्ष की सेना का घात होगा। मन्त्रियों के परामर्श से सैन्ययुद्ध का परिहार हो गया। भरत और बाहुबली के मध्य जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध और बाहुयुद्ध हुआ। इन तीनों युद्धों में बाहुबली विजेता रहे। भरत अत्यन्त लज्जित हुए और उन्होंने बाहुबली पर देवोपनीत चक्र चला दिया। देवोपनीत चक्र अपने कुटुम्बियों पर प्रभावी नहीं होता है। अतः चक्र ने बाहुबली की परिक्रमा की और वह निस्तेज होकर बाहुबली के समीप ही ठहर गया।

बाहुबली सोचने लगे कि साम्राज्य फल रूप में दुःखदायी ही है। मण्डलराजा एवं प्रजाजन भी भरत को धिक्कारने लगे। बाहुबली को वैराग्य उत्पन्न हो गया। वे भरत से कहने लगे–

'प्रेयसीयं तवैवास्तु राज्यश्रीर्या त्वयादृता।
नौचितैषा ममायुष्मन् बन्धो न हि सतां मुदे।।'

(आदिपुराण, 36/97)

बाहुबली ने अविनय के लिए भरत से क्षमायाचना की। भरत भी अपने किये अकार्य पर पश्चाताप करने लगा। दृढ़निश्चयी बाहुबली को भरत की अनुनय-विनय डिगा न सकी और उन्होंने राज्य त्यागकर दिगम्बर मुनि-दीक्षा ग्रहण कर ली। बाहुबली ध्यानस्थ हो गये। उन्होंने एक वर्ष तक एक ही स्थान पर प्रतिमायोग धारण किया। उनके कंधों तक केश लटकने लगे। सर्प उन पर लिपट गये और उन्होंने वामी बना ली। लतायें उनके अविचल शरीर पर चढ़ गईं। ऐसी तीव्र तपस्या करने पर भी उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। क्योंकि उनके मन में यह विकल्प मौजूद रहा कि मैं भरत की भूमि पर खड़ा हूँ।

बाहुबली का जैसे ही एक वर्ष का प्रतिमायोग समाप्त हुआ तो चक्रवर्ती भरत ने उनकी पूजा की। पूजा करते ही बाहुबली को अविनाशी केवलज्ञान प्राप्त हो गया। आचार्य जिनसेन ने लिखा है कि बाहुबली के मन में यह विचार विद्यमान था कि भरत को मेरे निमित्त से कष्ट पहुँचा है। इसी कारण केवलज्ञान को भरत की पूजा की अपेक्षा थी। उन्होने लिखा है–

'संक्लिष्टो भरताधीशः सोऽस्मत्त इति यत्किल।
हृद्यस्य हार्दं तेनासीत् तत्पूजापेक्षि केवलम्।।'

(आदिपुराण, 36/186)

बाहुबली को केवलज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भरत ने पुनः बडी भारी पूजा की। पहले जो पूजा की थी वह तो अपने अपराध के प्रायश्चित के लिए थी। भगवान् बाहुबली की स्तुति करते हुए आदिपुराण (36/212) में कहा गया है कि जिन बाहुबली ने अन्तरंग और बहिरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है, बड़े-बड़े योगिराज ही जिनकी महिमा जान सकते हैं, जो पूज्य पुरुषों के द्वारा भी पूजनीय हैं ऐसे योगिराज बाहुबली को जो अपने हृदय में धारण करता है, उसकी अन्तरात्मा शान्त हो जाती है तथा वह शीघ्र ही मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है।

भगवान् बाहुबली चरमशरीरी प्रथम कामदेव थे, जिनकी ध्यानस्थ काल

की श्रीक्षेत्र श्रवणबेलगोला में 57 फीट ऊँची पर्वत शिलाखण्ड में निर्मित अतिशयकारी मूर्ति है। इस मूर्ति को चैत्र शुक्ल पंचमी विक्रम संवत् 1038 में गुरुवार के दिन चामुण्डराय के अनुरोध पर शिल्पियों ने परिपूर्णता प्रदान की थी। 57 फीट की मूर्ति की संरचना का भी एक रहस्य है। संवर के कारण 3 गुप्तियाँ, 5 समितियाँ, 10 धर्म, 12 अनुप्रेक्षायें, 22 परीषहजय और 5 महाव्रत रूप चारित्र हैं। कदाचित् संवर के 57 कारणों को ध्यान में रखकर ही चामुण्डराय ने इसे 57 फीट की बनवाने का निर्देश दिया हो।

गोम्मटेश बाहुबली की इस मूर्ति का जब प्रथम अभिषेक राजा-महाराजाओं, मन्त्री-सेनापति आदि ने किया तो कहा जाता है कि उनके अभिषेक की पयोधारा कटिप्रदेश तक ही आ पाती थी। सब आश्चर्यचकित थे। पता चला कि एक गुल्लिका अज्जी गुल्लिका में दुग्ध लेकर भगवान् का अभिषेक करना चाहती है। किसी तरह जब उसे अनुमति मिल गई और उसने अभिषेक किया तो लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। भावविशुद्धि के कारण उसके गुल्लिकाभर दुग्ध से पूरी प्रतिमा का अभिषेक हो गया तथा बहने वाली धारा से नीचे कल्याणी सरोवर भी लबालब भर गया। इससे प्रभावित होकर चामुण्डराय ने गुल्लिका अज्जी की मूर्ति भी मुख्य द्वार पर स्थापित करा दी। गुल्लिका अज्जी अमर हो गई।

6 फरवरी, से 19 फरवरी 2006 तक श्रीक्षेत्र श्रवणबेलगोला में विराजमान विश्वविख्यात भगवान् गोम्मटेश बाहुबली की इस अतिशयकारी पावन प्रतिमा का बारह वर्ष के पश्चात् महामस्तकाभिषेक सम्पन्न होने जा रहा है। इस आयोजन की तैयारियाँ लगभग पूरी हो चुकी हैं। इस अवसर पर अनेकान्त का यह संयुक्तांक विशेषांक के रूप में समर्पित करते हुए हमें अलौकिक आनन्द एव असीमित आत्मतोष हो रहा है। गुल्लिका अज्जी की तरह यदि हमारे भावों में विशुद्धि हो, उसके दुग्ध के समान यदि अभिषेक में प्रयोज्यमान द्रव्यों की शुद्धि हो तो निश्चित ही हम भी महामस्तकाभिषेक के फल से सफल हो सकते हैं।

हमें आशा है कि गत महामस्तकाभिषेकों की तरह इस महामस्तिकाभिषेक मे श्रीदेश-विदेश विशेषकर उत्तर भारत के हजारों लाखों की संख्या में समाज के स्त्री-पुरुष भी सम्मिलित होकर भगवान् बाहुबली के प्रति अपनी श्रद्धा व भक्ति व्यक्त कर वुपभ लाभ लेंगें। हमें प्रसन्नता है कि भारत के महामहिम राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम ने 22 जनवरी 2006 को स्वयं उपस्थित होकर भगवान् बाहुबली की इस अनुपम प्रतिमा को राष्ट्र की ओर से अपने श्रद्धा सुमन समर्पित किये। डॉ. कलाम शुद्ध शाकाहारी हैं। यह हम सभी का सौभाग्य है कि देश को ऐसा राष्ट्रपति मिला। हम अपने राष्ट्रपति जी के धर्ममय दीर्घ जीवन की कामना करते हैं।

28 दिसम्बर 2005 से 1 जनवरी 2006 तक श्रीक्षेत्र श्रवणबेलगोला में सारस्वत मनीपियों का एक विशाल सम्मेलन परमपूज्य आचार्य श्री वर्धमानसागर जी महाराज (ससंघ), अन्य आचार्यों, उपाध्यायश्री एवं मुनियों के पावन सान्निध्य में तथा स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्तिजी के कुशल नेतृत्व में सम्पन्न हो चुका है। इसमें कतिपय प्रथमदृष्ट नव्यों से लेकर शताधिक बहुश्रुत लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् मनीषियों ने अपनी सहभागिता से इसकी गरिमा बढ़ाई। स्वस्तिश्री भट्टारक जी विद्वानों की अच्छी व्यवस्था के लिए सतत् विचारशील रहे किन्तु आयोजकों की कदाचित् किसी विशिष्ट समस्या के कारण समागत विद्वान् परेशानियों का अनुभव करते रहे। हम आशा करते हैं कि भविष्य के आयोजन निरापद तथा और अधिक गरिमापूर्ण होंगे।

–जय कुमार जैन

बाहुबली प्रतिमा की पृष्ठभूमि

–लक्ष्मीचन्द्र सरोज

श्रवणबेलगोला के बाहुबली

जिस प्रतिमा ने एक सहस्र बसन्त, एक सहस्र हेमन्त, एक सहस्र ग्रीष्म, एक सहस्र शरद और एक सहस्र शिशिर काल देखे तथा मध्ययुग में सहस्र जीवन-संघर्ष उत्थान पतन, सुख-दुख मूलक परिसर-परिवेश देखे, उस पुनीत प्रतिमा को आचार्य नेमीचन्द्र 'सिद्धान्त चक्रवर्ती' के सान्निध्य में सेनापति और अमात्य चामुण्डराय ने सन् 981 में स्थापित किया था और इस पावन प्रतिमा का इक्कीसवीं शताब्दी का प्रथम महामस्तकाभिषेक महोत्सव 8 फरवरी 2006 से 19 फरवरी 2006 पर्यंत अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मनाया जा रहा है।

संघर्ष-आक्रमण-विग्रह, संस्कृति-जन्म-जीवन-मरण देखते और लेखते हुए महामानव भगवान् बाहुबली की जीवन्त प्रतिमा अदम्य उत्साहपूर्वक आज भी गौरव से मस्तक उन्नत किए खड़ी है, अपनी ऐतिहासिकता, पावनता, तप-त्याग, वीतरागता और विराटता की प्रतीक बनी है।

जिस प्रकार बाहुबली की प्रतिमा वास्तु कला में अप्रतिम है उसी प्रकार बाहुबली अपने मानवीय जीवन में भी अप्रतिम थे। उनका बल, उनका भोग, उनका ध्यान, उनका योग उनकी स्वतन्त्रता, उनका स्वाभिमान, उनका केवलज्ञान, उनका मोक्ष-प्रस्थान उनका सारा जीवन ही अप्रतिम था। वे जैसे पहले कामदेव थे वैसे सर्वप्रथम मोक्षगामी भी थे। विस्मय की बात तो यह है कि तीर्थकर नहीं होकर भी वे तीर्थकर से पहले मोक्ष गये। वे अपने पिता श्री ऋषभदेव या महाप्रभु आदिनाथ, जो इस युग के सर्वप्रथम तीर्थकर थे, उनसे भी पहले मोक्ष चले गए।

बाहुबली में क्या गुण थे? प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर में यह प्रश्न पूछना ही समुचित समाधान कारक होगा कि बाहुबली में क्या-क्या गुण नहीं थे? अर्थात् वे सभी पुरुषोचित सद्गुणों से सम्पन्न व्यक्ति थे। उनके विषय में तो यह भी जनश्रुति है कि प्रव्रज्या के उपरान्त और मोक्ष के प्रस्थान तक उन्होंने एक ग्रास आहार भी ग्रहण नहीं किया। उनकी अद्वितीय क्षमता को देखकर लगता है कि जैसे उनमें सभी मानवों का साहस पुंजीभूत हो गया हो। बाहुबली का जीवन और चरित्र यथानाम, तथागुण; का केन्द्रबिन्दु है।

बाहुबली की प्रतिमा के विषय में सुप्रसिद्ध मूर्तिकार मूलचन्द्र रामचन्द्र नाहटा ने अभिमत दिया–एक सहस्र वर्ष से भी अधिक प्राचीन प्रतिमायें सहस्रों की संख्या में आजकल उपलब्ध हैं जिनके दर्शन और पूजन करने के लिए हम तीर्थ क्षेत्रों पर जाते हैं परन्तु उनमें वह सौन्दर्य, वह कला नहीं है, जो श्रवणबेलगोला के बाहुवली की प्रतिमा में है। शिल्पकला की दृष्टि में यह प्रतिमा अद्वितीय और अप्रतिम, अप्रतिद्वन्दी और अजातशत्रु है।

प्रतिमा की रूपरेखा :

मैसूर संस्थान के चीफ कमिशनर मि. बोरिंग ने स्वयं मापकर प्रतिमा की ऊँचाई 57 फीट बतलाई। प्रतिमा के अवयवों का संक्षिप्त विवरण सप्रमाण निम्नलिखित है–

प्रमाण	फुट	इंच	मीटर
चरण से कर्ण के अधोभाग तक	50	–	15.25
कर्ण के अधोभाग से मस्तक तक	6	6	2.00
चरण की लम्बाई	9	–	2.75
चरण की अग्रभाग की चौड़ाई	4	6	1.37
चरण का अँगूठा	2	9	0.84
पाद-पृष्ठ के ऊपर की गोलाई	6	4	1.93

जांघ की ऊपरी आधी गोलाई	10	–	3.05
नितम्ब से कान तक	24	6	7.47
रीढ़ की अस्थि अधोभाग से कर्ण तक	20	–	6.01
नाभि के नीचे उदर की चौड़ाई	13	–	3.96
कटि और टेहुनी से कान तक	17	–	5.18
बाहुमूल से कान तक	7	–	2.14
तर्जनी उँगली की लम्बाई	3	6	1.067
मध्यमा उँगली की लम्बाई	5	3	1.06
अनामिका की लम्बाई	4	7	1.04
कनिष्ठका की लम्बाई	2	8	0.81
गरदन के नीचे भाग से कान तक	2	6	0.76
मूर्ति की कुल ऊँचाई	57	–	17.385

गोम्मटेश्वर द्वार की बाईं ओर जो शिलालेख है, वह सन् 1090 का है, उसमें कन्नड़ कवि पं. वोप्पण ने मूर्ति की महिमा का प्रतिपादक एक काव्य लिखा है, जिसका हिन्दी भाषा में सरल अनुवाद निम्नलिखित है–

जब मूर्ति आकार में बहुत ऊँची और बड़ी होती है तब उसमें प्रायः सौन्दर्य का अभाव रहता है। यदि मूर्ति बड़ी हुई और सौन्दर्य भी हुआ तो उसमें दैवी चमत्कार होना असम्भव लगता है परन्तु गोम्मटेश्वर (कामदेव और चामुण्डराय के देवता) बाहुबली की मूर्ति ऊँची-बड़ी सुन्दर साश्चर्य-चमत्कारिणी है। दूसरे शब्दों में 57 फुट ऊँची होने से बड़ी है, सौन्दर्य में अद्वितीय है और दैवी चमत्कार-सम्पन्न है, अतएव यह प्रतिबिम्ब-सम्पूर्ण विश्व के व्यक्तियों द्वारा दर्शनीय और पूजनीय है। इस तथ्य को समझ कर ही शायद कर्नाटक सरकार ने श्रवणबेलगोला को पर्यटन-स्थल बनाया।

बाहुबली की निरावरणता :

दिगम्बर जैन मूर्तियों की निरावरणता के रहस्य को जो लोग नहीं समझते हैं, वे नग्नता के साथ अपनी अश्लील भावनायें भी जोड़ लेते हैं। शिवव्रतलाल वर्मन सदृश अन्य लोग भी चाहें तो दिगम्बर जैन मंदिर में जाकर 'छवि वीतरागी नग्न मुद्रा दृष्टि नासा पै धरैं' तुल्य प्रतिमा के दर्शन करके भूल सुधार सकते हैं। हिन्दी वाङ्मय के सुप्रसिद्ध साहित्यकार जैनेन्द्रकुमार के शब्दों में सूर्य सत्य तो यह है कि मनुष्य जब आता है तब वस्त्र साथ नहीं लाता है और जब जाता है तब भी वस्त्र साथ नहीं ले जाता है। वस्त्रों का उपयोग जन्म से मरण के मध्य सामाजिक जीवन के लिए ही है। निर्विकार होने से साधुजन निर्वस्त्र भी रह सकते हैं इसलिए दिगम्बर साधुओं सदृश परम हँस और मादर जात फकीर भी होते रहे हैं।

भगवान् बाहुबली ने निरावरण होकर, वस्त्राभूषण त्यागी होकर पुनीत साधना की थी और जब बाहर सदृश भीतर से भी निरावरण राग-द्वेष रहित हुए तब ही उन्हें केवलज्ञान की महामणि मिली और मुक्ति श्री भी। उनकी प्रतिमा भी एक सहस्राब्दी से निरावरण ध्यानस्थ वीतराग मुद्रा में खड़ी है और पुरुषों को ही नहीं बल्कि पशु-पक्षियों को भी दिव्य शान्ति का सन्देश दे रही है। बाहुबली की प्रतिमा की निरावरणता से प्रभावित होकर अब तो जैनेतर विद्वान् भी दिगम्बरता के प्रति द्वेष भाव को छोड़कर परम प्रीति को प्राप्त होने लगे हैं।

भगवान् बाहुबली की निरावरणता को लक्ष्य कर भारत के सुप्रसिद्ध साहित्यकार काका कालेलकर ने अतीव मर्मस्पर्शी हृदयोद्गार व्यक्त किये हैं, जो अक्षरशः अविकल माननीय हैं–

"सांसारिक शिष्टाचार में फँसे हुए हम मूर्ति की ओर देखते ही सोचने लगते हैं कि यह नग्न है। क्या नग्नता वास्तव में हेय है? अत्यन्त अशोभन है? यदि ऐसा होता तो प्रकृति को भी इसके लिए लज्जा आती। फूल नंगे रहते हैं। प्रकृति के साथ जिनकी एकता बनी हुई है, वे शिशु भी नंगे रहते हैं। उनकी अपनी नग्नता में लज्जा नहीं लगती।"

मूर्ति में कुछ भी बीभत्स जुगुप्सित अशोभन अनुचित लगता है, ऐसा किसी भी दर्शक मनुष्य का अनुभव नहीं है। कारण नग्नता एक प्राकृतिक स्थिति है। मनुष्य ने विकारों को आत्मसात करते-करते अपने मन को इतना अधिक विकृत कर लिया कि स्वभाव से सुन्दर नग्नता उससे सहन नहीं होती। दोष नग्नता का नहीं कृत्रिम जीवन का है। बीमार मनुष्य के आगे फल, पौष्टिक मेवे या सात्विक आहार भी स्वतन्त्रता पूर्वक नहीं रखा जा सकता। दोष खाद्य पदार्थ का नहीं, बीमार की बीमारी का है। यदि हम नग्नता को छिपाते हैं तो नग्नता के दोष के कारण नहीं बल्कि अपने मानसिक रोग के कारण। नग्नता छिपाने में नग्नता की सुरक्षा नहीं लज्जा ही है।

जैसे बालक के सामने नराधम भी शान्त पवित्र हो जाता है वैसे ही पुण्यात्माओं-वीतरागों के सम्मुख मनुष्य भी शान्त गम्भीर हो जाता है। जहॉ भव्यता और दिव्यता है वहॉ मनुष्य विनम्र होकर शुद्ध हो जाता है। मूर्तिकार चाहते तो माधवी लता की एक शाखा को लिंग के ऊपर से कमर तक ले जाते और नग्नता को ढकना असम्भव नहीं होता पर तब तो बाहुबली भी स्वयं अपने जीवन-दर्शन के प्रति विद्रोह करते प्रतीत होते। जब निरावरणता ही उन्हें पवित्र करती है तब दूसरा आवरण उनके लिए किस काम का है?

निष्कर्ष यह निकला कि निर्विकार श्रवण की नग्नता निन्दा योग्य नहीं है बल्कि विकारग्रस्त समाज की अश्लीलता मूलक नग्नता ही अतीव निन्दनीय है, संशोधन योग्य है।

बाहुबली की योग साधना :

प्रथम मुनि और प्रथम तीर्थंकर महाप्रभु आदिनाथ ने छह माह के लिए प्रतिमा-योग धारण किया था पर उनके द्वितीय पुत्र बाहुबली ने एक वर्ष के लिए प्रतिमायोग स्वीकार किया। इसके पहले भरत सम्राट ने छह खण्ड पृथ्वी जीत कर जो कीर्ति उपार्जित की, जिससे वे चक्रवर्ती कहलाए, ऐसे भरतेश्वर

की विजयलक्ष्मी दैदीप्यमान चक्रमूर्ति के बहाने बाहुबलि के समीप आई परन्तु बाहुबलि ने उसे तृणवत समझ कर छोड़ दिया। भरत के चक्र चलाने का कारण यह था कि बाहुबली दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध, और मल्लयुद्ध में विजित हो चुके थे और उनके चक्र ने बाहुबली का बाल बांका भी नहीं किया था।

बाहुबली योग-साधना में लीन हैं। एक स्थान एक आसन पर खड़े रहने का नियम लिए हैं। न आहार है न बिहार और न निहार, न निद्रा है और न तन्द्रा, केवल ज्ञान और ध्यान है। एक से अधिक माह यों ही बीते। समीप का स्थान वन-वल्लरियों से व्याप्त हो गया, उनके चरणों के समीप सर्पो ने वामियां बना लीं। वामियों से सर्पो के बच्चे निकलते रहे, उनके लम्बे-लम्बे केश कन्धों तक लटकते रहे, फूली हुई बासन्ती लता अपनी शाखा रूपी भुजाओं से उनका आलिंगन कर रही है।

बाहुबली महान् अध्यात्म योगी हैं। इन्होंने शरीर से आत्मा को पृथक् समझ लिया है। ये अपनी आत्मा को अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्यमय देख रहे हैं। अनन्त गुणों के पुंजस्वरूप अपनी आत्मा का श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी में तन्मयरूप चारित्र, यों ये भी निश्चय रत्नत्रय रूप से परिणमन कर शुद्धोपयोग में लीन हो रहे पर कालान्तर में कभी उत्कृष्टतम शुभोपयोगी भी हो जाते हैं। इन्होंने ध्यान और तपश्चरण के बल से मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय चार ज्ञान प्राप्त कर लिए। चूंकि ये तपस्यामूलक श्रम से अणु भर भी मन में खेद खिन्न नहीं हैं अतएव आत्मिक आह्लाद की उज्जवल झलक इनके सुमुख पर है।

शरीर पर लतायें चढ़ गई। सर्पो ने वामियां बना लीं। विरोधी वनचर प्रशान्त होकर विचरण करते रहे। बाहुबली सुमेरु सदृश सुदृढ़ ही रहे और निष्कम्प प्रतिमा योग धारण किए हैं और अब पूर्णतया केवलज्ञानी हो गये हैं इसलिए चक्रवर्ती भरत उनकी प्रशंसा कर रहे हैं–

"आपकी एकाग्रता, आपका धैर्य धन्य है। आपने आहारादि सज्ञाओं सदृश क्रोधादि चार कषायों को ही नहीं जीता बल्कि चार घातिया कर्मो

को भी जीत लिया और अनन्तदर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य के धनी हो गए।"

स्वर्ग के देवता और मर्त्यलोक के मनुष्य स्तुति कर रहे हैं–

"आपने जैसा ध्यान किया वैसा ध्यान भला कौन कर सकता, ध्यान-चक्रवर्ती योगीश्वर बाहुबली तृतीय काल में जन्मे, जीवन जिया, जीवन्मुक्त हुये और मुक्ति श्री का वरण भी किया।" यद्यपि भगवान् बाहुबली तीर्थकर नहीं थे तथापि उनकी प्रतिमाएँ, कारकल, मूढ़बिद्री, वादामि पर्वत संग्रहालय बंबई, जूनागढ़ खजुराहो, लखनऊ, देवगढ़, तिलहरी, फिरोजाबाद, हस्तिनापुर, एलोरा आदि में हैं। यह उनके अप्रतिम त्याग और अद्भुत तपश्चरण का ही प्रभाव है जो आज भी उनकी मूर्ति की स्थापना से दिगम्बरत्व गौरवान्वित हो रहा है।

महाश्रमण गोम्मटेश्वर बाहुबली की दिगम्बर मूर्ति युग-युग तक असंख्य प्राणियों को सुख और शान्ति, सन्तोष और समृद्धि बन्धन और मुक्ति, भोग और योग, स्वतन्त्रता और स्वामिभान का सन्देश देती रहेगी और सृष्टि को शिव का मार्ग प्रदर्शित करती रहेगी तथा अतीत की भाँति आज भी अपने चरित्र और चारित्र को पुनरावलोकन करने हेतु प्रेरणा देती है।

जब तक सूर्य और चन्द्र प्रकाश देते हैं, सरितायें बहती हैं, सरोवर लहराते हैं, समुद्र उद्वेलित होते हैं तब तक भारतीय संस्कृति की ज्वलन्त उदाहरण जैसी गोम्मटेश्वर बाहुबली की प्रतिमा का पूजन-अर्चना करते हुये भक्तजन त्रैविद्यदेव नेमीचन्द्र 'सिद्धान्त चक्रवर्ती' के स्वर में मिला कर कहते रहेंगे–

परम दिगम्बर ईतिभीति से रहित विशुद्धि बिहारी।
नाग समूहों से आवृत फिर भी स्थिर मुद्रा धारी।।
निर्भय निर्विकल्प प्रतिमायोगी की छवि मन लाऊँ।
गोमटेश के श्रीचरणों में बारम्बार झुक जाऊँ।।

–22, बजाजखाना, जाबरा (म. प्र.)

व्यक्तियों के मस्तिष्क में वस्त्र रहित होना भद्देपन का सूचक हो सकता है, किंतु नग्नता तो बालकों जैसी निश्छलता और पवित्रता का प्रतीक है। वस्त्र उतारने में वासना की बू आ सकती है किंतु नग्न रहना पूर्ण त्याग और अपरिग्रह का द्योतक है। पूर्ण अपरिग्रह (अंतरंग और बहिरंग) दिगम्बर जैन दर्शन, संस्कृति तथा जीवन शैली का प्रतिबिम्ब है। कायोत्सर्ग में स्थित गोम्मटेश बाहुबली का यह बिम्ब ध्यानारूढ़ अवस्था में आत्मावलोकन की उस स्थिति में है जहाँ उन्हें अपने शरीर का भान ही समाप्त हो गया है। बेलें शरीर के ऊपर चढ़ गयी हैं। छोटे-छोटे जीव-जन्तुओं ने अपने बिल बना लिए हैं। फिर भी भगवान् अडिग, निश्चल, शरीर से बाहर होने वाली गतिविधियों से अनभिज्ञ आत्मचिंतन में स्थित परम पुरूषार्थ की साधना में निमग्न हैं। हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार श्री आनन्द प्रकाश जैन ने तो अपने उपन्यास "तन से लिपटी बेल" में यहाँ तक कल्पना कर डाली कि –बाहुबली को अर्न्तमन से समर्पित वैजन्यती नरेश की पुत्री राजनन्दिनी को जैसे ही यह पता लगा कि महाराज भरत को चक्रवर्ती पद देकर विजेता बाहुबली ने वैराग्य ले लिया है, वह बन्धु बान्धवों सभी को छोड़कर पागलों की तरह भटकती हुई बाहुबली तक जा पहुँची जहाँ वे एकाग्रमुद्रा में ध्यानावस्थित, सीधे खड़े, आँखें बंद किए मुनि साधना में लीन थे। वह उनकी आँखें खुलने की प्रतीक्षा में उनके चरणों में आसन लगा कर बैठ गई और समय के साथ-साथ वह भी अचल हो गई। उपन्यासकार लिखते हैं :

"आँधियां आई, बरसातें आई, गरमी से आस-पास का घास-फूस तक झुलस गया, न ही बाहुबली का ध्यान टूटा और ना ही राजनंदिनी मे कंपन हुआ। समय के प्रभाव ने उसके शरीर को परिवर्तित करके मिट्टी का ढेर बना दिया। उस पर घास-फूस उग आए, लताओं का निर्माण हुआ और कोई चारा ना देखकर वे लताएँ बाहुबली के अचल शरीर पर लिपट गई।"

मैसूर के निकट श्रवणबेलगोला स्थान पर स्थित बाहुबली 'गोम्मटेश्वर' की 57 फीट ऊँची, वैराग्य की वह साकार पाषाण-प्रतिमा आज भी

विद्यमान है, और उस पर लिपटी, अपने प्रीतम के रंग में रंग गई वे पाषाण लताएँ आज भी उस राग और वैराग्य के अपूर्व संघर्ष का इतिहास कह रही हैं।[2]

कविवर मिश्रीलाल जी ने अपने खण्ड काव्य 'गोम्मटेश्वर' में बाहुबली की प्रतिमा के अप्रतिम सौन्दर्य पर मुग्ध होकर लिखा है :

"प्रस्तर में इतना सौन्दर्य
समा सकता है,
प्राण प्राण पुलकित हों
पत्थर भी ऐसा क्या गा सकता है?"[3]

बाहुबली के कामदेव जैसे सुन्दर रूप तथा सर्व-परिग्रह रहित कठोर तपस्या का बड़ा मार्मिक चित्रण कवि ने प्रस्तुत किया है।

"कामदेव सा रूप
साधना वीतराग की
दो विरुद्ध आयाम
एक तट पर ठहरे हैं।"[4]

प्रतिमा उत्तरमुखी है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि बाहुबली की ये मूर्ति आंतरिक चक्षुओं से अपने पिता और तीर्थकर, आदि ब्रह्मा, महादेव शिवशंकर भगवान् ऋषभदेव की निर्वाण स्थली कैलाश पर्वत की ओर निहार रही हो।

संसार के प्रतिष्ठित इतिहासविदो पुरातत्ववेत्ताओं, विद्वानों, कलाकारों व कलामर्मज्ञों सभी ने, जिन्हे भी मूर्ति के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ, एक ही स्वर से मूर्ति के अद्वितीय होने की अनुशंसा की है। कुछ विद्वानों के विचार नीचे दिये जा रहे हैं।

"It is the biggest monolithic statue in the world—larger than any of the statues of Rameses in Egypt . . ."[5]

अर्थात एक ही पाषाण खंड से बना यह संसार का सबसे विशाल बिम्ब है जो मिश्र की रेमेसिज की मूर्तियों से भी बड़ा है।

एच. जिमर का मत है :

"It is human in shape and feature, yet as inhuman as an icicle, and thus expresses perfectly the idea of successful withdrawal from the round of life and death, personal, cares, individual destiny, desires, sufferings and events......like a pillar of some superterrestirial unearthly substance......stands superbly motionless."[6]

अर्थात यह मूर्ति आकृति और नाक-नक्श में मानवीय है और अधर में लटकती हिमशिला की भॉति मानवेत्तर है। जन्म मरण के चक्र, जीवन की नियति, चिन्ताओं, कामनाओं, पीड़ाओं, घटनाओं से पूर्णतया मुक्त-भावों को सपूर्णता के साथ अभिव्यक्त करती है। अपार्थिव और अलौकिक स्तम्भ की तरह अचल और अडिग खड़ी है।

विन्सेट स्मिथ के अनुसार :

"Undoubtedly the most remarkable of Jaina statues and the largest free standing statue in Asia...set on the top of an eminence is visible for miles round."[7]

अर्थात निस्सन्देह ही यह अति विशिष्ट और असाधारण जैन मूर्ति एशिया की निराधार खड़ी विशालतम प्रतिमा है, जो पर्वत के उच्चतम शिखर पर स्थित चारों ओर मीलों दूर से देखी जा सकती है।

वालहाउस का मत है :

Truly Egyptian in size, and unrivalled throughtout India as detached work....Nude, cut from a single mass of granite, darkened by the monsoons of centuries, the vast statue stands upright...in a posture of somewhat stiff but simple dignity."[8]

अर्थात वस्तुतः आकार में मिश्र की मूर्तियों जैसी, समस्त भारत में अद्वितीय एवं अनुपम, निर्लिप्त, नग्न ग्रेनाइट की एक ही चट्टान से

तराशी गई, शताब्दियों से मानसून के थपेड़े सहन करती हुई बाहुबली की यह विशाल प्रतिमा अपनी सादगीपूर्ण भव्यता के साथ कायोत्सर्ग मुद्रा में अचल खड़ी है।

महान् विद्वान फर्ग्यूसन ने मूर्ति के विषय में निम्न विचार व्यक्त किये हैं :

"Nothing more grander or more inposing exists anywhere out of Egypt, and even there no known statue surpasses it in height"[9]

अर्थात मिश्र से बाहर संसार में कहीं भी इससे अधिक भव्य और अनुपम मूर्ति नहीं है और वहॉ भी कोई भी ज्ञात मूर्ति ऊँचाई में इसके समकक्ष नहीं है।

कवि बोप्पण ने लगभग 1180 ई. में मूर्ति के कला सौन्दर्य पर मुग्ध होकर अपने काव्य में लिखा है :

अतितंगाकृतिया दोडागदद रोल्सौन्दूयर्यमौन्नत्यमुं
नुतसौन्दर्यमुभागे मत्तातिशंयतानाग दौन्नत्युमुं
नुतसौन्दर्यमुमूर्जिततातिशयमुं तन्नल्लि निन्दिदर्दुवें
क्षितिसम्पूज्यमो गोम्टेश्वर जिनश्री रूपमात्मोपमं।।[10]

अर्थात् "यदि कोई मूर्ति अति उन्नत (विशाल) हो, तो आवश्यक नहीं वह सुन्दर भी हो। यदि विशालता और सुन्दरता दोनों हों, तो आवश्यक नहीं उसमें अतिशय (दैविक प्रभाव) भी हो। लेकिन गोम्मटेश्वर की इस मूर्ति में तीनों का सम्मिश्रण होने से छटा अपूर्व हो गई है।" इसी अभिलेख में लिखा है पक्षी भूलकर भी इस मूर्ति के ऊपर नहीं उड़ते। यह भी इसकी दिव्यता का प्रमाण है।

मैसूर के तत्कालीन नरेश कृष्णराज वोडेयर ने कहा था, "जिस प्रकार भरत के साम्राज्य के रूप में भारत विद्यमान है उसी प्रकार मैसूर की भूमि गोम्मटेश्वर बाहुबली के आध्यात्मिक साम्राज्य की प्रतीक रूप है।"

भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू, काका कालेलकर तथा डॉ. आनन्दकुमार स्वामी, शेषगिरिराव, श्री एल.के. श्रीनिवासन, प्रो. गोरावाला जैसे कला विशेषज्ञों ने भी मूर्ति के अपूर्व सौन्दर्य की प्रशंसा की है।

मूर्ति का निर्माण किसने किया?

मूर्ति का निर्माण गंगवंशीय नरेश राचमल्ल चतुर्थ के सेनापति एवं प्रधानमंत्री वीर चामुण्डराय द्वारा सम्पन्न हुआ।[11] कहा जाता है कि चामुण्डराय की माता कालिका देवी ने जैनाचार्य अजितसेन से आदिपुराण का यह वृतांत सुनकर कि पोदनपुर में सम्राट भरत द्वारा स्थापित भगवान् बाहुबली की पन्ने की 525 धनुषप्रमाण ऊँची मूर्ति है, दर्शन करने की इच्छा व्यक्त की। चामुण्डराय अपने धर्म गुरु आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, अपनी माता एव पत्नी के साथ यात्रा पर निकल पड़े। जब वे मार्ग में श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर ठहरे तो रात्री में वहाँ क्षेत्र की शासन देवी कुष्मांडिनी देवी ने स्वप्न में आकर उन्हें पृथक्-पृथक् बताया कि कुक्कुट सर्पो द्वारा आच्छादित तथा समय के प्रभाव से विलुप्त होने के कारण उस मूर्ति के दर्शन संभव नही हो सकेंगे। किंतु यदि चामुण्डराय वहीं से सामने की पहाड़ी इन्द्रगिरी पर भक्तिभावना से तीर छोड़ें तो वैसी ही मूर्ति के दर्शन उस पहाड़ी पर होंगे। गुरु की आज्ञा से चामुण्डराय ने तीर छोड़ा। कहते हैं कि चमत्कार हुआ। पत्थर की परते टूट कर गिरीं और मूर्ति का मस्तक भाग स्पष्ट हो गया। जिस स्थान से चामुण्डराय ने यह तीर छोड़ा था उसे 'चामुण्डराय चट्टान' के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त है।[12]

इस मान्यता में कल्पना का कितना पुट है यह तो नहीं कहा जा सकता, किंतु यह तथ्य निर्विवाद है कि चामुण्डराय उच्च कोटि के जिनेन्द्र भक्त व मातृभक्त थे और उनके मन में भगवान् बाहुबली की एक अनुपम मूर्ति निर्मित कराने की तीव्र अभिलाषा थी। और उन्होंने गुरु के आदेश

से राज्य शिल्पी अरिष्टनेमी द्वारा मूर्ति का निर्माण कराया। यही कारण है कि उनके द्वारा जिन धर्म की प्रभावना के कारण सर्वसंघ ने चामुण्डराय को 'सम्यक्त्व-रत्नाकर', 'सत्य-युद्धिष्ठर', 'देवराज' तथा 'शौचाभरण' जैसी उपाधियों से अलंकृत किया था। उस समय के सर्वोत्कृष्ट शासकों ने भी उन्हें उनकी विजयोपलब्धियों पर समय-समय पर 'समर धुरंधर', 'वीर-मार्तण्ड', 'रण-रग-सिह', 'बैरिकुल-कालदण्ड', 'भुजविक्रम', 'समरकेशरी', 'प्रतिपक्षराक्षस', 'सुभट चूड़ामणि' 'समर-परसुराम' तथा 'राय' इत्यादि उपाधियों से विभूषित किया था।

मूर्ति प्रतिष्ठा :

चामुण्डराय ने मूर्ति का निर्माण और स्थापना कराई, इसमें तो कोई संदेह नहीं, किंतु स्थापना कब, किस तिथि को हुई इस बारे मे विद्वानों में गंभीर मतभेद रहे हैं। यह विषय स्वतन्त्र विवेचन की अपेक्षा रखता है। यहाँ इतना ही जानना पर्याप्त है कि लगभग सभी विद्वानों ने काफी विचार विमर्श के बाद तथा 'बाहुबली चरित' में दिए हुए नक्षत्रीय संकेतो को भी ध्यान में रखते हुए श्रवणबेलगोल में मूर्ति की प्रतिष्ठा के लिए 13 मार्च, 981 A.D. को सर्वाधिक अनुकूल माना है। इसी के आधार पर सन् 1981 में सहस्राब्दि महामस्तकाभिषेक सम्पन्न हुआ था। तब से यही समय प्रामाणिक माना जा रहा है।

बेलगोल से श्रवणबेलगोल :

श्रवणबेलगोल का 'श्रवण' शब्द स्पष्ट रूप से 'श्रमण' भगवान् बाहुबली (जो स्वयं महाश्रमण थे) के साथ सम्बन्धित है। एक महत्त्वपूर्ण शिलालेख (न. 31) में यह उल्लेख है कि जैन धर्म की प्रभावना उस नगर में उसी समय से हो गई थी जब आचार्य भद्रबाहु अपने शिष्य सम्राट चन्द्रगुप्त के साथ वहाँ पहुँचे थे। जैन धर्म का प्रभाव कुछ समय के लिए अवश्य कम हुआ किन्तु उसे मुनि शान्तिसेन ने पुनर्जीवित किया। (650

A.D.)। कन्नड़ में 'बेल' और 'गोल' शब्दों का अर्थ है 'श्वेत सरोवर' अथवा 'धवल सरोवर।[13] नगर के मध्य का कल्याणी तालाब मूल 'श्वेत सरोवर' की जगह स्थित माना जाता है। इस शिलालेख में केवल 'बेलगोल' शब्द का उल्लेख है 'श्रवणबेलगोल' का नहीं अतः नगर का नाम 'श्रवणबेलगोल' अवश्य ही श्रमण भगवान् बाहुबली की प्रतिमा की स्थापना के बाद ही प्रसिद्ध हुआ है।

मूर्ति का नाम गोमटेश्वर क्यों?

कुछ विद्वानों का मत है कि 'गोमट' चामुण्डराय का प्यार का नाम था। यहाँ तक की आचार्य श्री नेमिचन्द्र चामुण्डराय की जिनेन्द्र भक्ति से इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने अपने द्वारा रचित पाँच सिद्धान्त ग्रंथों में से दो 'कर्मकाण्ड' और 'जीवकाण्ड' का नाम मिलाकर 'गोमटसार' रख दिया था। जब चामुण्डराय द्वारा बाहुबली की प्रतिमा का निर्माण कराया गया तो लोगों ने उन्हें गोमटेश्वर अर्थात् गोमट (चामुण्डराय) के ईश्वर, गोम्मट के भगवान् के नाम से पुकारना प्रारम्भ कर दिया। अतः इनका नाम गोमटनाथ, गोम्मट स्वामी, गोम्मट जिन व गोम्मटेश्वर प्रसिद्ध हो गया। डॉ. ए. उन उपाध्याय का मत है कि 'गोम्मट' शब्द का प्राकृत और संस्कृत से कुछ लेना देना नहीं है। यह स्थानीय भाषा का शब्द है जो कन्नड़, तेलगू, कोंकणी तथा मराठी भाषा में मिलता है जिसका अर्थ होता है 'श्रेष्ठ', 'उत्कृष्ठ', 'अच्छा', 'सुन्दर', 'उपकारी'। उनके अनुसार यह चामुण्डराय के संदर्भ में ही प्रयोग हुआ लगता है।

उपरोक्त मत निम्न कारणों से तर्क संगत प्रतीत नहीं होता।

(a) इस मूर्ति की स्थापना के पूर्व और पश्चात् भी दक्षिण में गोम्मटेश्वर की विशालकाय मूर्तियाँ निर्मित हुई–ई.सन् 650 में बीजापुर के बादामी में; मैसूर के समीप गोम्मट गिरी में 18 फीट ऊँची 14वीं सदी में; होसकोटे हलल्ली में 14 फीट ऊँची; कारकल में सन् 1432

में 41.5 फीट ऊँची; वेणूर में सन् 1604 ई. में 35 फीट ऊँची। ये मूर्तियाँ भी 'गोम्मट', 'गुम्मट' अथवा 'गोम्मटेश्वर' कहलाती हैं जिनका निर्माण चामुण्डराय ने नहीं कराया।

(b) चामुण्डराय के आश्रय में रहे कवि रन्न ने अपने 'अजितपुराण' (993 ई.) में गोम्मट नाम से कहीं भी उनका उल्लेख नहीं किया है।

(c) कवि दोड्डय ने अपने संस्कृत ग्रंथ 'भुजबलि शतक' सन् (1550) में चामुण्डराय द्वारा मूर्ति का प्रकटीकरण करने का वर्णन करते हुए कहीं भी उनका नाम 'गोम्मट' उल्लेख नहीं किया है।

(d) मूर्ति के निर्माण से 12 शताब्दी तक मूर्ति को 'कुकुटेश्वर' 'कुकुट-जिन' या 'दक्षिण कुकुट जिन' के नाम से जाना जाता था क्योंकि यह मान्यता थी कि उत्तर भारत की भरत द्वारा स्थापित मूर्ति कुक्कुट सर्पो द्वारा ढक दी गई है। नेमीचन्द्र आचार्य ने भी इन्हीं नामों से मूर्ति को संबोधित किया है।

(e) स्वयं चामुण्डराय ने मूर्ति के पादमूल में अंकित उपरोक्त वर्णित तीनों अभिलेखों में कहीं भी अपने को 'गोम्मट' नहीं लिखा है। 'श्री चामुण्डराय करवियले' आदि लिखा गया है।

(f) श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में जहाँ गोम्मट नाम का उल्लेख है (No. 733 and No. 125) उनमें मूर्ति को 'गोम्मटदेव' और चामुण्डराय को 'राय' कहा गया है।[14]

(g) श्री एम. गोविंद पाई का भी यही अभिमत है[15] कि बाहुबली का ही अपर नाम 'गोम्मट' 'गुम्मट' था। पं. के.वी. शास्त्री ने 'गोम्मट' शब्द की व्युतपत्ति करते हुए इसका अर्थ 'मोहक' प्रतिपादित किया है। कात्यायन की 'प्राकृत मंजरी' के अनुसार संस्कृत का 'मन्मथ', प्राकृत में 'गुम्मह' और कन्नड़ में 'गम्मट' हो जाता है। कोंकणी भाषा का 'गोमेटो' संस्कृत के 'मन्मथ' का

ही रूपान्तर है। गोम्मट संस्कृत के 'मन्मथ' शब्द का ही तद्भव रूप है और यह कामदेव का द्योतक है। अब प्रश्न उठता है कि बाहुबली क्या कामदेव कहलाते थे? यह सत्य है। जैन धर्मानुसार बाहुबली इस युग के प्रथम कामदेव थे।

'तिलोयपण्णत्ती' अधिकार-4 मे लिखा है कि चौबीस तीर्थकरों के समय में महान्, सुंदर, प्रमुख चौवीस कामदेव होते है। इन कामदेवों में वाहुबली प्रथम कामदेव थे। अतः इन्हें गोम्मटेश्वर में (कामदेवों में प्रमुख) कहते हैं। वे सर्वार्थ सिद्धि की अहमिन्द्र पर्याय से चलकर आए थे। चरम शरीरी और 525 धनुष की उन्नत काय के धारी थे।

(h) भगवान् वाहुवली ने सिद्धत्व प्राप्त किया था। लौकिक व्यवहार में भी अरिहंतो, सिद्धों, तीर्थकरों के नाम पर व्यक्तियों के नाम रखे जाते है, ना कि देहधारी ससारियों के नाम पर सिद्धों या अरिहंतों के। अत. ये समझना तर्क सगत नही कि बाहुवली की दिव्य प्रतिमा का नाम चामुण्डराय के अपर-नाम 'गोमट' के कारण 'गोम्मटेश्वर' पड़ा।

परन्तु ये अधिक तर्क संगत है कि 'गोम्मटेश्वर बाहुबली' की स्थापना के कारण लोगों ने चामुण्डराय को प्रेम से 'गोमट' अथवा 'गोम्मट' पुकारना प्रारम्भ किया है। बाहुबली का स्वयं का नाम ही गोम्मटेश्वर था इनमें कोई संदेह प्रतीत नहीं होता।

बाहुबली कौन थे :

बाहुबली प्रथम जैन तीर्थकर आदिनाथ (ऋषभदेव जिन) के पुत्र भरत जिनके नाम पर इस देश का नाम 'भारतवर्ष' पड़ा[17] के लघु भ्राता थे। ऋषभ देव का विवाह कच्छ और महाकच्छ राजा की राजकुमारियों यशस्वती और सुनन्दा के साथ हुआ था। 'महापुराण' में यशस्वती और सुनंदा ये दो रानियाँ बताई हैं। 'पउमचरिउ' और श्वे. ग्रंथों में सुमंगला

और नन्दा नाम दिए हैं। 'पद्म पुराण' पर्व 20 श्लोक 124 में भरत की माता का नाम यशोवती भी लिखा है। यशस्वती से भरतादि एक सौ पुत्र और पुत्री ब्राह्मी एवं सुनंदा से एक पुत्र बाहुबली और सुन्दरी नाम की कन्या ने जन्म लिया था।[18] एक दिन नृत्यागंना नीलाजंना की नृत्य करते हुए आकस्मिक मृत्यु हो जाने पर जीवन की क्षणभंगुरता देख महाराज ऋषभदेव को वैराग्य हो गया। उन्होंने युवराज भरत को उत्तराखण्ड (अयोध्या-उत्तर भारत) का और राजकुमार बाहुबली को (पोदनपुर-दक्षिण पथ) का शासन सौंप मुनि दीक्षा धारण कर ली। इस बारे में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वानों के अनुसार पोदनपुर तक्षशिला (उत्तर भारत) के पास ही स्थित था, या तक्षशिला का ही दूसरा नाम था, जो वर्तमान में पाकिस्तान में है। 'महापुराण', 'पद्मपुराण', 'हरिवंशपुराण' में 'पोदनपुर' लिखा है किन्तु 'पउमचरिय' में 'तक्षशिला' लिखा है। आचार्य हेमचन्द्र का भी यही मत है। किंतु आचार्य गुणभद्र के अनुसार पोदनपुर दक्षिण भारत का हिस्सा था।[19] बौद्ध साहित्य से भी इसी विचार की पुष्टि होती है कि पोदनपुर (पोदन, पोसन, पोतली) गोदावारी के किनारे स्थित था।[20] पाणिनी का भी यही मत प्रतीत होता है।[21] डॉ. हेमचन्द्रराय चौधरी बोधना को महाभारत के पोदना और बौद्ध साहित्य के पोत्तना से सम्बंधित समझते है। यदि हम ये मान लें कि पोदनपुर दक्षिण भारत में स्थित था तो आन्ध्र प्रदेश के निज़ामाबाद जिले में स्थित 'बोधना' नगर को पोदनपुर स्वीकार करना अधिक तर्क संगत होगा। कवि पम्पा के 'भरतकाव्य', वेमलवाद (Vemulvad) स्तम्भ पर खुदा लेख तथा परवनी ताम्र लेख भी इसी विचार की पुष्टि करते हैं। यह नगर राष्ट्रकूट राजा इन्द्रवल्लभ की राजधानी भी था। यह विचार भी अधिक तर्क संगत प्रतीत होता है कि एक भाई को उत्तर भारत का तथा दूसरे भाई को दक्षिण भारत का राज्य दिया गया।

बाहुबली अत्यन्त पराक्रमी और बाहुबल से युक्त थे। जिनसेनाचार्य 'महापुराण' के पर्व 16 में बाहुबली के नाम की सार्थकता सिद्ध करते हुए कहते हैं :

बाहु तस्य महाबाहोरधातां बलमर्जितम्।
यतो बाहुबलीत्यासीत् नामास्य महसां निधेः।।

लम्बी भुजावाले तेजस्वी उन बाहुबली की दोनों भुजाएँ उत्कृष्ट बल को धारण करती थीं। इसीलिए उनका 'बाहुबली' नाम सार्थक था।

अत्यन्त पराक्रमी होने के कारण 'भुजबली', 'दोरबली', एवं सुनन्दा से उत्पन्न होने के कारण वे 'सौनन्दी' नाम से भी जाने जाते थे। वे वीर और उदार हृदय थे। अधिक की उन्हें लालसा नहीं थी। राज्यों पर विजय प्राप्त करने की उनकी महत्त्वाकांक्षा नहीं थी। वे विशिष्ट संयमी थे। शरणागत की रक्षा के लिए, अन्याय के प्रतिकार के लिए ही अग्रज भरत के प्रति असीम आदर रखते हुए भी उन्होंने उनके शत्रु बज्रवाहू को अपने यहाँ शरण दी थी। अपने पिता द्वारा दिए राज्य से वे संतुष्ट थे।

भरत ने सिंहासनारूढ़ होकर दिग्विजय की दुन्दुभि बजा दी और चक्रवर्ती सम्राट का विरद प्राप्त किया। सभी राजाओं ने उनकी आधीनता स्वीकार कर ली। उनके स्वतन्त्रता प्रेमी भाईयों ने संन्यास धारण कर लिया। किन्तु जब वे दिग्विजय से लौटे तो उनके चक्ररत्न ने आयुधशाला में प्रवेश नहीं किया। कारण खोजने पर पता लगा कि उनके अनुज बाहुबली ने उनका स्वामित्व स्वीकार नहीं किया था। दूत भेजा गया। बाहुबली ने स्पष्ट किया कि भाई के रूप में वे बड़े भाई भरत के समक्ष शीश झुकाने को सदैव तत्पर हैं किन्तु राजा के रूप में वे स्वतंत्र शासक हैं, उनका शीश किसी राजा के समक्ष नहीं झुक सकता। यह एक राजा को अपने सम्मान, अपनी स्वतन्त्रता, न्याय के पक्ष तथा विस्तारवादी नीति के विरुद्ध चुनौती थी। परिणाम स्वरूप युद्ध की घोषणा हुई। सेनायें आमने-सामने आ डटीं। 'पउमचरिउ'[22] तथा 'आवश्यक चूर्णी के अनुसार बाहुबली ने स्वयं ये प्रस्ताव रखा कि युद्ध में सेनाओं की व्यर्थ की बर्बादी को रोका जाए और दोनों भाई द्वन्द के द्वारा जय पराजय का निर्णय करें। यह एक अहिंसक निर्णय था। बाहुबली युद्ध की विभीषिका से परिचित थे। सेनाओं की उनके कारण व्यर्थ क्षति हो, ऐसा वे नहीं चाहते थे।

ऋषभ की संतानों की परम्परा हिंसा की नहीं थी। भरत ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। तीन प्रकार की प्रतियोगिताएँ निश्चित की गई–दृष्टि युद्ध, मल्ल युद्ध और जल युद्ध।[24] 'पउमचरिउ' में केवल दो-दृष्टि युद्ध और मुष्टि युद्ध (मल्ल युद्ध) का ही उल्लेख है। अन्य एक ग्रंथ में 'वाक-युद्ध' और 'दन्ड युद्ध' को मिलाकर पॉच प्रकार के युद्धों का समावेश वर्णन किया है[25]। निष्कर्ष है कि जय पराजय का निर्णय दोनों भाईयों के बीच हुआ जिसमें सेनाओं ने भाग नहीं लिया। इन सभी युद्धों में बाहुबली विजयी रहे। अपमानित होकर क्रोध के वशीभूत भरत ने बाहुबली पर अमोघ चक्र से प्रहार किया।[26] किवंदती है कि चक्र ने भाई को क्षति नहीं पहुँचाई। वह बाहुबली की तीन प्रदक्षिणा कर वापस लौट आया। घटना किसी भी प्रकार घटी हो, निष्कर्ष यही निकलता है कि बाहुबली चक्र के प्रहार से बच गए जिससे भरत को और भी अधिक अपमान महसूस हुआ।

दीक्षा :

भरत के इस क्रूर, अनीतिपूर्ण कृत्य से बाहुबली का हृदय ग्लानि से भर उठा। व्यक्ति की महत्त्वाकाक्षांयें उससे क्या नहीं करा सकती इस विचार से वे सहम गए। ससार की क्षणभंगुरता का दृश्य उनकी ऑखों के सामने नाचने लगा। उन्होंने तत्काल सब कुछ भाई भरत को सौंप वैराग्य धारण कर लिया।[27] उपरोक्त कथानक में घटनाओं का अत्यंत मनोवैज्ञानिक चित्रण है। कौन व्यक्ति किस स्थिति में किस तरह का निर्णय लेगा इसका अनुमान लगाना कितना कठिन है। इस मनःस्थिति का चित्रण इस कथानक से स्पष्ट होता है। बाहुबली ने विजय प्राप्त करने के बाद भी अपनी भावना के रथ को उसी दिशा में मोड़ दिया जिस दिशा में उनके पिता आदि तीर्थकर ऋषभदेव गए थे। जिनसेन आचार्य के अनुसार भगवान् ऋषभदेव के चरणों में ही उन्होंने दीक्षा ग्रहण की।[28] फिर दीक्षा ग्रहण कर 1 वर्ष का प्रतिमायोग धारण किया।[29] "भरतेश मुझसे

संक्लेश को प्राप्त हुए हैं", ये विचार बाहुबली के केवलज्ञान में बाधक हो रहे थे। भरत के द्वारा बाहुबली की पूजा करते ही ये बाधा दूर हो गई, हृदय पवित्र हुआ और केवलज्ञान प्राप्त हो गया। भरत ने दो बार पूजा की। केवलज्ञान से पहले की पूजा अपना अपराध नष्ट करने के लिए तथा बाद की पूजा केवलज्ञान की उत्पत्ति का अनुभव करने के लिए की थी।[30]

प्राकृत के कुछ ग्रन्थों में उल्लेख है कि बाहुबली ऋषभदेव के पास दीक्षा लेने नहीं गये। उसका कारण यह बताया जाता है कि उन्हें अपने अनुजों को भी विनय करना पड़ता, जो पहले ही दीक्षित हो चुके थे।[31] 'पउमचरिय' व 'पद्मपुराण' में भी बाहुबली का भगवान् से दीक्षा लेने का कथन नहीं है। उन्होंने संकल्प किया था कि वे ऋषभदेव की सभा में केवलज्ञान प्राप्त करने के उपरांत ही जाएँगे। उन्होंने स्वयं ही दीक्षा ली ओर 1 वर्ष का कायोत्सर्ग धारण किया।[32] यह मान कषाय उनके केवलज्ञान की उपलब्धि में बाधक बना हुआ था। जब ब्राह्मी ने आकर बाहुबली से कहा कि "तुम कब तक मान के हाथी पर चढ़े रहोगे। तुम अपने अनुजों की नहीं, उनके गुणों की विनय कर रहे हो।"[33] अपनी गलती को मान जैसे ही बाहुबली जाने को उद्यत हुए उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। 'हरिवंशपुराण' के अनुसार तो बाहुबली केवलज्ञान के बाद ही भगवान् की सभा में गए। जैन पुराणों में एक और कथा आती है कि बाहुबली के मन में शल्य था कि वे भरत की भूमि पर खड़े हैं। जैसे ही भरत ने उनसे इस शल्य को यह कह कर त्यागने की प्रार्थना की कि अनेकों चक्रवर्ती आये और गए, यह पृथ्वी किसकी हुई है, उनका शल्य दूर हो गया और उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।

बाहुबली को शल्य था, ये विचार तर्क संगत प्रतीत नहीं होता। आचार्य जिनसेन के अनुसार बाहुबली को सभी प्रकार की ऋद्धियाँ प्राप्त हो गई थी और वे अत्यन्त निशल्य थे। **"गौरवैस्त्रिभिरुन्मुक्तः परां निःशल्यतांगतः"**।[35] आचार्य उमास्वामी ने भी 'तत्वार्थ सूत्र' में कहा है कि

"निःशल्योव्रती" अर्थात् जो माया, मिथ्यात्व व निदान तीनों शल्यो से रहित है वही व्रती होता है। और यदि बाहुबली जैसे परम तपस्वी, प्रतिमा योग के धारक, सकल भोगों का त्याग करने वाले दिगम्बर महामुनि को भी शल्य मान लिया जाए तो वे महाव्रती कैसे हो सकते हैं। 'पद्मपुराण' में भी आचार्य रविषेण ने बाहुबली के शल्य का वर्णन नहीं किया है।[36] शल्य की कथा पुराणों में संभवतः इस विचार को प्रमुखता देने के लिए जोड़ दी गई कि किसी भी प्रकार का 'मान कषाय' व्यक्ति की आत्मोपलब्धि में बाधक होता है चाहे वह तप के कितने ही ऊँचे शिखर पर क्यों न बैठा हो।

बाहुबली की मूर्तियाँ क्यों?

जैन परम्परा में केवल तीर्थकरों की मूर्तियॉ ही प्रतिष्ठापित की जाती हैं। बाहुवली स्वयं तीर्थकर नहीं थे फिर भी समस्त भारत में उनकी मूर्तियाँ स्थापित की गई। इसका मुख्य कारण यह है कि वे इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव से भी पूर्व मोक्ष जाने वाले जीव थे। उन्होंने एक वर्ष की घोर तपस्या कर कैवल्य प्राप्त किया था। उन्होंने लौकिक और पारलौकिक जीवन के लिए उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किये थे। लौकिक स्तर पर उन्होंने सत्य, न्याय, स्वाधीनता, अहिंसा और आत्मसम्मान के लिए संघर्ष किया। युद्ध की विभिषिका को जानते हुए, नर संहार को रोकने का प्रयत्न किया। अहिंसा और प्रेम का पाठ पढ़ाया। त्याग का अनूठा आदर्श प्रस्तुत किया। विजेता होकर भी सांसारिक सुखों को तिलाजंली दे दी और संसार की स्वार्थपरायणता, क्षणभंगुरता और निस्सारता को जानकर दुर्धर तप के रास्ते को अपनाया। कठिन तपश्चर्या मे भी उन्होंने असाधारण एवं सर्वश्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत किया। एक वर्ष के प्रतिमा योग में शरीर रहते हुए भी उनका शरीर के दुःख-सुख से सम्वन्ध टूट गया। वे स्वतंत्रता और स्वाधीनता का पर्याय बन गये। संसार में रहते हुए स्वाधीन रहना और संसार को त्यागकर अपने पुरुषार्थ से परम स्वाधीनता (मुक्ति) प्राप्त करना ही उनका चरित्र है। इतिहास साक्षी है

संसार उन्हीं को पूजता है जो त्याग करते हैं। रामचन्द्र अपने त्याग और मर्यादाओं के कारण 'मर्यादा पुरूषोत्तम' कहलाये। रावण भी वीर, बली और विद्वान था, किन्तु अपनी अनीति के कारण खलनायक कहलाया। कृष्ण ने कंस जैसी आसुरी शक्तियों को नष्ट किया इसलिए प्रतिष्ठा प्राप्त की। बाहुबली अपने उत्कृष्ट आदर्शो के कारण मानव से महामानव तथा अपनी दुर्धर तपश्चर्या के कारण महामानव से भगवान् के पद पर प्रतिष्ठित हो गए। उस समय के चक्रवर्ती सम्राट भरत ने भी उनका पूजन किया। स्वाभाविक है कि जैनों ने पूजनार्थ उनकी मूर्तियाँ स्थापित कीं।

भगवान् बाहुबली की यह अत्यंत मोहक विशाल, निश्चल, ध्यानस्थ, परम दिगम्बर प्रतिमा अहिंसा, सत्य, तप, वीतरागता का प्रतीक है। यह राग से विराग की यात्रा का दर्पण है। निवर्ति मूलक जैन परम्परा का स्तम्भ है। पूर्ण आत्म-नियंत्रण की द्योतक है। श्रद्धापूर्वक एकाग्रता से मूर्ति का अवलोकन चेतना का उर्ध्वारोहण करने में समर्थ है।

6 फरवरी 2006 को भगवान् बाहुबली का 21वीं शताब्दी का प्रथम महामस्तकाभिषेक हो रहा है। भारत सरकार ने श्रवणबेलगोल को रेल यातायात से जोड़ने की घोषणा की है। इस घोषणा की उपयोगिता तभी सार्थक हो सकती है जबकि श्रवणबेलगोल देश के प्रमुख महानगरों से आने-जाने वाली मुख्य रेलगाड़ियों से आरक्षण सुविधा सहित जोड़ा जा सके। आज पूरा विश्व एक वैश्विक ग्राम के रूप में परिवर्तित हो रहा है। इस मूर्ति में ऐसा करिश्मा है कि यदि इस नगर को राष्ट्रीय पर्यटक केन्द्र के रूप में विकसित किया जाए और यहाँ सीधी हवाई सेवायें अथवा बैंगलूर से हेलिकोप्टर सेवायें प्रदान की जाएँ तो भारत अकल्पनीय विदेशी मुद्रा अर्जित कर सकता है। यदि उचित प्रक्रिया अपनाते हुए जैन समाज अथवा भारत सरकार, मूर्ति को विश्व के अद्भुत आश्चर्यों में सम्मलित कराने का प्रयास करे तो इसमें अवश्य सफलता प्राप्त होगी जो देश के लिए एक महान् उपलब्धि होगी। यह मूर्ति देश की अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर है। जैस पहले भी कहा जा चुका है, यह खुले आकाश में 1 हजार वर्षो से भी अधिक समय

से प्रकृति के थपेड़े सहन कर अडिग खड़ी है, यह हमारा परम कर्त्तव्य और धर्म बनता है कि हम मूर्ति की पूर्ण सुरक्षा और संरक्षण का युद्ध स्तर पर प्रबंध करें। विशेषज्ञों से परामर्श कर मूर्ति के चारों ओर यदि सम्भव हो तो अभेदी शीशे का या किसी अन्य पारदर्शी वस्तु का परकोटा बनाया जाए जिससे कि वर्षा, धूप, तूफान इत्यादि से इसकी सुरक्षा हो सके।

–पूर्व प्राचार्य
एफ.-131, पाण्डव नगर
दिल्ली-110091

संदर्भ :

1. शेट्टर "श्रवण बेलगोल" (रुवारी धारवाड़) पृष्ठ 38 (सहयोग कर्नाटक पर्यटन)। प्रोफेसर शेट्टर कर्नाटक विश्वविद्यालय से 'श्रवणबेलगोल के स्मारक' विषय पर पी. एच.डी. हैं। वे कर्नाटक विश्वविद्यालय धारवाड के इतिहास तथा पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष तथा भारतीय कला इतिहास सस्थान के निर्देशक भी रह चुके हैं।
2 आनन्द प्रकाश जैन "तन से लिपटी बेल" (अहिंसा मन्दिर प्रकाशन) पृष्ठ 152
3. मिश्रीलाल जैन "गोम्मटेश्वर" (राहुल प्रकाशन, गुना, म. प्र.), पृष्ठ 1
4. मिश्रीलाल जैन "गोम्मटेश्वर" (राहुल प्रकाशन, गुना, म. प्र.), पृष्ठ 1
5. M H. Knshna, "Jain Antiquary", v, 4, Pg 103
6. H Zimmer. "Philosophies of India"
7. Vineet Smith, "History of Fine Arts in India and Ceylon," P. 268 "Jain Amtiquary VI, 1, p 34
8. Walhouse — of Sturrock, "South Cancer, I, p 86
9. Fergusson, "A History of Indian and Astern Architecture" II. pp. 72-73, Buchanon Travels, III, p. 83
10. विंध्यगिरि पर सुत्तालय के प्रवेश द्वार के बांयी ओर का शिलालेख क्रम सख्या 336
11. मूर्ति के पैरों के पास दॉई ओर के पाषाण सर्प विवर के 10वीं शताब्दी के लेख, क्रम संख्या 272 कन्नड़; अन्य लेख क्रम संख्या 273 तमिल 10 वी शताब्दी; क्रम सख्या 276 मराठी नागरी लिपि।

12. विंध्यगिरी पर सुत्तालय के प्रवेश द्वार के बाई ओर बोप्पन पंडित द्वारा अंकित 12वीं शताब्दी के विस्तृत शिलालेख, क्रम संख्या 336।
13 "जैन शिलालेख संग्रह", I Nos 17-18 (31) pp 6-7 Intr p 2
14. Epigraphia Karnatica' Vol 2 (Indore) p 13
15. "Indian Historical Quaterly" IV, 2 pp. 270-286, JS B, IV, 2 pp. 102-109
16. श्री मदभागवत्, पञ्चम स्कन्ध, तृतीय अध्याय, 20वाँ श्लोक।
17. श्री मदभागवत, पञ्चम स्कन्ध, चतुर्थ अध्याय, 8, 9 श्लोक।
'अग्नि', 'मार्कण्डेय', ब्रह्माण्ड', 'नारद' आदि पुराण भी इस संवध मे साक्ष्य है।
18. 'पद्म पुराण', 'हरिवंशपुराण', पउमचरिय' और श्वे. ग्रथो मे ऋषभदेव के पुत्रों की संख्या 100 संख्या लिखी है, किंतु 'महापुराण' मे 101 पुत्र बताये गए है।
19. गुणभद्र "उत्तर पुराण" 35ए 28-36। देखे वादिराज "पार्श्वनाथ चरित्र" 9. 37-28, 2-65
20. सुत्तनिपात, 977
21. पाणिनी, "अष्टाध्यायी", 1-373
22. 'पउमचरिय', 4. 43
23. 'आवश्यक चूर्णी', पृ. 210
24. 'महापुराण', 3-34, 204
25. 'आवश्यक भाष्य', गाथा 32
26. 'पउमचरिय', 4-47
27. पउमचरिय व पद्ममपुराण।
28. जिनसेनाचार्य, "महापुराण", पर्व 36 श्लोक 104
29. जिनसेनाचार्य, "महापुराण", पर्व 36 श्लोक 106
30. जिनसेनाचार्य 'महापुराण', पर्व 36 श्लोक 184-188
31. 'आवश्यक चूर्णी', पुष्ठ 210; (स) वासुदेवा हिन्दी पृष्ठ 186
32. हेमचन्द्राचार्य, "त्रिषष्टिश्लाका पुरुष"
33. संघदास गणी वसुदेव हिन्डी, पृष्ठ 187-88 (प्राकृत)
34. जिनसेनाचार्य, "महापुराण", 36. 152-154
35. रविषेणाचार्य , "पद्मपुराण", 4. 75-76

बाहुबली स्तवन

(1) सकलनृपसमाजे दृष्टिमल्लाम्बुयद्धै-
विजितभरतकीर्तिर्यः प्रवव्राज मुक्तयै।
तृणमिव विगणय्य प्राज्यसाम्राज्यभारं,
चरमतनुधराणामग्रणीः सोऽवताद् वः।।

(2) भरतविजयलक्ष्मीर्जाज्वलच्चक्रमूर्त्या,
यमिनमभिसरन्ती क्षत्रियाणां समक्षम्।
चिरतरमवधूतापत्रपापात्रमासी-
दधिगतगुरुमार्गः सोऽवताद् दोर्बली वः।।

(3) स जयति जयलक्ष्मीसंगमाशामवन्ध्यां
विदधद्धिकधामा संनिधौ पार्थिवानाम्।
सकलजगदगारव्याप्तकीर्तिस्तपस्या-
मभजत यशसे यः सूनूराद्यस्य धातुः।।

(4) जयति भुजबलीशो बाहुवीर्यं स यस्य
प्रथितमभवदग्रे क्षत्रियाणां नियुद्धे।
भरतनृपतिनामा यस्य नामाक्षराणि
स्मृतिमथमुपयान्ति प्राणिवृन्दं पुनन्ति।।

(5) जयति भुजगवक्त्रेद्वान्तनिर्यद्गराग्निः
प्रशममसकृदापत् प्राप्य पादौ यदीयौ।
सकलभुवनमान्यः खेचरस्त्रीकराग्रोद्-
ग्रथिततविततवीरुद्वेष्टितो दोर्बलीशः।।

(6) जयतिभरतराजप्रांशुमौल्यग्ररत्नो-
पललुलितनखेन्दुः ष्दुराद्यस्य सूनुः।
भुजगकुलकलापैराकुलैर्नाकुलत्वं
धृतिबलकलितो यो योगभृन्नैव भेजे।।

(7) शितिभिरलिकुलाभैराभुजं लम्बमानैः
पिहितभुजविटंको मूर्धजैवेल्लिताग्रैः।
जलधरपरिरोधध्याममूर्द्धेव भूध्रः
श्रियमपुषदनूनां दोर्बली यः स नोऽव्यात्।।

(8) स जयति हिमकाले यो हिमानीपरीतं
वपुरचल इवोच्चैर्बिभ्रदाविर्बभूव।
नवघनसलिलौघैर्यश्च धौतोऽब्दकाले
खरघृणिकिरणानप्युणकाले विषेहे।।

(9) जगति जयिनमेनं योगिनं योगिवर्यै-
रधिगतमहिमानं मानितं माननीयैः।
स्मरति हृदि नितान्तं यः स शान्तान्तरात्मा
भजति विजयलक्ष्मीमाशु जैनीमजय्याम्।।

– आचार्य जिनसेन स्वामी

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं,
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति।
दूरे सहस्त्रकिरणः कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि।।

– भक्तामर स्तोत्र, 9

हे भगवन्! सम्पूर्ण दोषों से रहित आपका स्तवन तो दूर रहे, किन्तु आपकी पवित्र कथा भी जगत के जीवों के पापों को नष्ट कर देती है।

सूर्य दूर रहता है, पर उसकी प्रभा ही तालाबों में कमलों को विकसित कर देती है।

श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में दान परम्परा एवं श्रवणबेल्गोला के अभिलेखो में वर्णित बैंकिग प्रणाली लेख कार्यकारिणी सदस्य (वीर सेन मदिर) साहित्य मनीषी श्री सुमतप्रसाद जैन ने उपलब्ध कराये हैं।

–सम्पादक

श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में दान परम्परा

–डॉ. जगबीर कौशिक

शुद्ध धर्म का अवकाश न होने से धर्म में दान की प्रधानता है। दान देना मंगल माना जाता था। याचक को दान देकर दाता विभिन्न प्रकार के सुखों की अनुभूति करता था। अभिलेखों के वर्ण्य-विषय को देखते हुए यह माना जा सकता है कि दान देने के कई प्रयोजन होते थे। कभी मुनि राजा या साधारण व्यक्ति को समाज के कल्याण हेतु दान देने के लिए कहते थे तथा कभी लोग अपने पूर्वजों की स्मृति में वसदि या निषद्या का निर्माण करवाते थे। किन्तु प्रसन्न मन से दान देना विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

साधारण रूप में स्वयं अपने और दूसरे के उपकार के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान है। **राजवार्तिक** में भी इसी बात को कहा गया है।[1] किन्तु **धवला** के अनुसार रत्नत्रय से युक्त जीवों के लिए अपने वित्त का त्याग करने का रत्नत्रय के योग्य साधनों को प्रदत्त करने की इच्छा का नाम दान है।[2] आचार्यों ने अपनी कृतियों में दान के विभिन्न भेदों की चर्चा की है। **सर्वार्थसिद्धि**[3] में आहारदान, अभयदान तथा ज्ञानदान नामक तीन दानों की चर्चा की है। जबकि **सागारधर्मामृत**[4] के अनुसार सात्त्विक, राजस, तामस आदि तीन प्रकार के दान होते हैं। किन्तु मुख्य रूप से दान को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–अलौकिक व लौकिक। अलौकिक दान साधुओं को दिया जाता है, जो चार प्रकार का है–आहार, औषध, ज्ञान व अभय तथा लौकिक दान साधारण व्यक्तियों को दिया जाता है। जैसे-समदत्ति, करुणदत्ति, औषधालय, स्कूल, प्याऊ आदि खुलवाना।

श्रवणबेल्गोला के लगभग दो सौ अभिलेखों में दान परम्परा के उल्लेख मिलते हैं। इनमें मुख्य रूप से ग्रामदान, भूमिदान, द्रव्यदान, वसदि (मन्दिरों) का निर्माण व जीर्णोद्धार, मूर्ति दान, निषद्या निर्माण, आहार दान, तालाब, उद्यान, पट्टशाला (वाचनालय), चैत्यालय, स्तम्भ तथा परकोटा आदि का निर्माण जैसे दान वर्णित हैं। इन दानों का अलौकिक व लौकिक नामक दो भागों में विभक्त किया जाता है–

अलौकिक दान–जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अलौकिक दान साधुओं को दिया जाता है क्योंकि लौकिक दान में जिन वस्तुओं की गणना की गई है, जैनाचार में उन वस्तुओं को मुनियों के ग्रहण करने योग्य नहीं बतलाया गया है। श्रवणबेलगोला के अभिलेखों में अलौकिक दान में केवल आहार दान[5] का उल्लेख मिलता है।

आहार दान–आहार दान का अत्यन्त महत्त्व है। इसके महत्त्व का उल्लेख करते हुए **पंचविंशतिका**[6] में बतलाया गया है कि जैसे जल निश्चय करके रुधिर को धो देता है, वैसे ही गृहरहित अतिथियों का प्रतिपूजन करना अर्थात् नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान करना भी निश्चय करके गृहकार्यो से संचित हुए पाप को नष्ट करता है। श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में भूमि रहन से मुक्त करने पर तथा कष्टों के परिहार होने पर आहारदान की घोषणा करने का वर्णन मिलता है। एक अभिलेख के अनुसार[7] कम्भिय्य ने घोषणा की है कि चुवडि सेट्टि ने मेरी भूमि रहन से मुक्त कर दी, इसलिए मै सदैव एक संघ को आहार दूंगा। अष्टादिक्पालक मण्डप के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख[8] में कहा है कि चौडी सेट्टि ने हमारे कष्ट का परिहार किया है, इस उपलक्ष्य में मैं सदैव एक संघ को आहार दूंगा। जबकि इसी स्तम्भ पर उत्कीर्ण दूसरे अभिलेख में[9] आपद् परिहार करने पर वर्ष में छह मास तक एक संघ को आहार देने की घोषणा की है। इस प्रकार आलोच्य अभिलेखों के समय में आहार दान की परम्परा विद्यमान थी।

लौकिक दान–जो दान साधारण व्यक्ति के उपकार के लिए दिया जाता है, उसे लौकिक दान कहते हैं। इसके अन्तर्गत औषधालय, स्कूल, प्याऊ,

वसदि, मन्दिर, मूर्ति आदि का निर्माण व जीर्णोद्धार तथा ग्राम, भूमि, द्रव्य आदि के दान सम्मिलित किए जाते हैं। आलोच्य अभिलेखों में इस दान के उल्लेख पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं, जिनका वर्णन इस प्रकार है–

(i) **ग्राम दान**–श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में ग्राम दान सम्बन्धी उल्लेख प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। ग्रामों का दान-मन्दिरों में पूजा, आहारदान या जीर्णोद्धार के लिए किया जाता था। इन ग्रामों की आय से ये सभी कार्य किए जाते थे। शान्तला देवी द्वारा बनवाये गए मन्दिर के लिए प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव को एक ग्राम का दान दिया गया।[10] मैसूर नरेश कृष्णराज ओडेयर ने भी जैन धर्म के प्रभावनार्थ वेल्गुल सहित अनेक ग्रामों को दान में दिया।[11] कभी-कभी राजा अपनी दिग्विजयों में लौटते हुए मूर्ति के दर्शन करने के उपरान्त ग्राम दान की घोषणा करते थे। गोम्मटेश्वर मूर्ति के पास ही पाषाण खण्ड पर उत्कीर्ण एक अभिलेख[12] के अनुसार राजा नरसिंह जब बल्लाल नृप, ओडेय राजाओं तथा उच्चङ्गि का किला जीतकर वापिस लौट रहे थे तो मार्ग में उन्होंने गोम्मटेश्वर के दर्शन किए तथा पूजनार्थ तीन ग्रामों का दान दिया। चन्द्रमौलि मन्त्री की पत्नी आचल देवी द्वारा निर्मित अक्कन वसदि में स्थित जिन मन्दिर को चन्द्रमौलि की प्रार्थना से होय्सल नरेश वीर बल्लाल ने बम्मेयनहल्लि नामक ग्राम का दान दिया।[13] मन्त्री हुल्लराज ने भी नयकीर्ति सिद्धान्तदेव[14] और भानुकीर्ति[15] को सवणेरु ग्राम का दान दिया। बम्मेयनहल्लि नामक ग्राम के सम्मुख एक पाषाण पर उत्कीर्ण एक लेख के अनुसार[16] आचल देवी ने बम्मेयनहल्लि नामक ग्राम का दान दिया।

इसी प्रकार कई अभिलेखों में आजीविका, आहार पूजनादि के लिए ग्राम दान के भी उल्लेख मिलते हैं। शासन वसदि के सामने एक शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण अभिलेख के अनुसार[17] विष्णुवर्धन नरेश से पारितोषिक स्वरूप प्राप्त हुए, 'परम' नामक ग्राम को गङ्गराज ने अपनी माता पोचलदेवी तथा भार्या लक्ष्मी देवी द्वारा निर्मापित जिन मन्दिरों की आजीविका के लिए अर्पण किया। महा-प्रधान हुल्लमय ने भी अपने स्वामी

होयूसल नरेश मारसिंहदेव से पारितोषिक में प्राप्त सवणेरु ग्राम का गोम्मट स्वामी की अष्टविध पूजा तथा मुनियों के आहार के लिए दान दिया।[18] वीर बल्लाल राजा ने भी 'बेक्क' नामक ग्राम का दान गोम्मटेश्वर की पूजा के लिए ही किया था।[19] कण्ठीरायपुर ग्राम के लेखानुसार[20] गङ्गराज ने पार्श्वदेव और कुक्कुटेश्वर की पूजा के लिए गोविन्दवाडि नामक ग्राम का दान दिया। चतुर्विंशति तीर्थकर पूजा के लिए बल्लाल देव ने मारुहल्लि तथा बेक्क ग्राम का दान दिया।[21] शल्य नामक ग्राम का दान वसदियो के जीर्णोद्धार तथा मुनियों की आहार व्यवस्था के लिए किया गया था।[22] किन्तु आलोच्य अभिलेख मे दो अभिलेख[23] ऐसे हैं जिनके अनुसार ग्राम दान, दानशाला, कुण्ड, उपवन तथा मण्डप आदि की रक्षा के लिए किया गया। इस प्रकार हम अभिलेखों से यह जान पाते हैं कि धार्मिक कार्यो की सिद्धि के लिए ग्राम दान की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही थी।

(ii) **भूमि दान**–आलोच्य काल मे ग्राम दान के साथ-साथ भूमि दान की भी परम्परा थी। श्रवणबेलगोला के अभिलेखों में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनमें भूमि दान के प्रयोजन का वर्णन मिलता है। मुख्यतः भूमि दान का प्रयोजन अष्टविध पूजन, आहार दान, मन्दिरो का खर्च चलाना होता था। कुम्बेनहल्लि ग्राम के एक अभिलेख के अनुसार वादिराज देव ने अष्टविध पूजन तथा आहार दान के लिए कुछ भूमि का दान किया।[24] इसी प्रकार के उल्लेख अन्य अभिलेखों में[25] भी मिलते हैं। श्रवणबेल्गोला के ही कुछ अभिलेखों में ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनमें दान की हुई भूमि के बदले प्रतिदिन पूजा के लिए पुष्पमाला प्राप्त करने का वर्णन है। गोम्मटेश्वर द्वार के दायीं ओर पाषाण खण्ड पर उत्कीर्ण एक अभिलेख के अनुसार[26] बेल्गुल के व्यापारियों ने गङ्ग समुद्र और गोम्मटपुर की कुछ भूमि खरीदकर उसे गोम्मटदेव की पूजा हेतु पुष्प देने के लिए एक माली को सदा के लिए प्रदान की थी। इसी प्रकार के वर्णन अन्य अभिलेखों में[27] भी मिलते हैं। कुछ ऐसे भी अभिलेख हैं जिनमें वसदि या जिनालय के लिए भूमिदान के प्रसंग मिलते हैं। मंगायि वसदि के प्रवेश द्वार के साथ

ही उत्कीर्ण एक लेख में वर्णन मिलता है कि पण्डितदेव के शिष्यों ने मंगायि वसदि के लिए दोड्डन कट्टे की कुछ भूमि दान की।[28] नागदेव मन्त्री द्वारा कपठपार्श्वदेव वसदि के सम्मुख शिलाकुट्टम और रङ्गशाला का निर्माण करवाने तथा नगर जिनालय के लिए कुछ भूमिदान करने का उल्लेख एक अभिलेख[29] में मिलता है। उस समय में भूमि का दान रोगमुक्त होने या कष्ट मुक्त तथा इच्छा पूर्ति होने पर भी किया जाता था। महासामन्ताधिपति रणावलोक श्री कम्बयन् के राज्य में मनसिज की रानी के रोगमुक्त होने के पश्चात् मौनव्रत समाप्त होने पर भूमि का दान किया।[30] लेख में भूमि दान की शर्त भी लिखी है कि जो अपने द्वारा या दूसरे दान की गई भूमि का हरण करेगा, वह साठ हजार वर्ष कीट योनि में रहेगा। गन्धवारण वसदि के द्वितीय मण्डप पर उत्कीर्ण लेख में पट्टशाला (वाचनालय) चलाने के लिए भूमि दान का उल्लेख है।[31] भूमि दान से सम्बन्धित अनेक उल्लेख अन्य अभिलेखों मे भी मिलते हैं।[32] इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्कालीन दान परम्परा में भूमि दान का महत्त्वपूर्ण स्थान था, जिससे प्रायः सभी प्रयोजन सिद्ध किए जाते थे।

***(iii)* द्रव्य (धन) दान**–श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में नगद राशि के दान स्वरूप भेंट करने के उल्लेख मिलते हैं उस धन से पूजा, दुग्धाभिषेक इत्यादि का आयोजन किया जाता था। गोम्मटेश्वर द्वार के पूर्वी मुख पर उत्कीर्ण एक लेख के अनुसार कुछ धन का दान तीर्थकरों के अष्टविधपूजन के लिए किया गया था।[33] चन्द्रकीर्ति भट्टारकदेव के शिष्य कल्लत्य ने भी कम से कम छह मालाएँ नित्य चढ़ाने के लिए कुछ धन का दान किया।[34] राजा भी धन का दान किया करते थे। उन्हें जिस ग्राम में निर्मित मन्दिर इत्यादि के लिए दान करना होता था, उस ग्राम के समस्त कर इस धार्मिक कार्य के लिए दान कर देते थे। राजा मारसिंह देव ने भी गोम्मटपुर के टैक्सों का दान चतुर्विंशति तीर्थकर वसदि के लिए किया था।[35] द्रव्य दान की एक विधि चन्दा देने की परम्परा भी होती थी। चन्दा मासिक या वार्षिक दिया जाता था। मोसले के वड्ड व्यवहारि

बसववेट्टि द्वारा प्रतिष्ठापित चौबीस तीर्थकरों के अष्टविध पूजन के लिए मोसले के महाजनों ने मासिक चन्दा देने की प्रतिज्ञा की।[36] मासिक के अतिरिक्त वार्षिक चन्दा देने के उल्लेख भी मिलते हैं। चतुर्विंशति तीर्थकरों के अष्टविध पूजार्चन के लिए मोसल के कुछ सज्जनों ने वार्षिक चन्दा देने की प्रतिज्ञा की।[37] गोम्मटेश्वर द्वार पर उत्कीर्ण एक लेख के अनुसार[38] बेल्गुल के समस्त जौहरियों ने गोम्मटदेव और पार्श्वदेव के पुष्प पूजन के लिए वार्षिक चन्दा देने का संकल्प किया था।

प्रतिमा के दुग्धाभिषेक के लिए द्रव्य का दान करना अत्यन्त श्रेष्ठ माना जाता था। कोई भी व्यक्ति कुछ सीमित धन का दान करता था। उस धन के ब्याज से जितना दूध प्रतिदिन मिलता था, उससे दुग्धाभिषेक कराया जाता था। आदियण्ण ने गोम्मटदेव के नित्याभिषेक के लिए चार गद्याण का दान किया, जिसके ब्याज से प्रतिदिन एक 'बल्ल' दूध मिलता था।[39] हुलिगेरे के सोवणा ने पांच गद्याण का दान दिया, जिसके ब्याज से प्रतिदिन एक 'बल्ल' दूध मिलता था।[40] इसी प्रकार दुग्धदान के लिए अन्य उदाहरण[41] भी आलोच्य अभिलेखों में देखे जा सकते हैं। अष्टादिक्पालक मण्डप के स्तम्भ पर खुदे एक लेख के अनुसार[42] पुट्ट देवराजै अरसु ने गोम्मट स्वामी की वार्षिक पाद पूजा के लिए एक सौ वरह का दान दिया तथा गोम्मट सेट्टि ने बारह गद्याण का दान दिया।[43] इसके अतिरिक्त श्रीमती अव्वे ने चार गद्याण का तथा एरेयङ्ग ने बारह गद्याण का दान दिया।

(iv) **वसदि (भवन) निर्माण**–आलोच्य अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय वसदि निर्माण भी दान परम्परा का एक अंग था। ये वसदियाँ पूर्वजों की स्मृति में जन-साधारण के कल्याणार्थ बनवाई जाती थी। आज भी पार्श्वनाथ, कत्तले, चन्द्रगुप्त, शान्तिनाथ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, चामुण्डराय, शासन, मज्जिगण्ण, एरछुकट्टे, सवतिगन्धवारण, तोरिन, शन्तीश्वर, चेन्नण, आदेगल, चौबीस तीर्थकर, भण्डारि, अक्कन सिद्धांत, दानशाले, मङ्गरिय आदि बस्दियों को खंडित अवस्था में देखा जा

सकता है। ये वसदियाँ गर्भगृह, सुखनासि, नवरङ्ग, मानस्तम्भ, मुखमण्डप आदि से युक्त होती थीं।

इन्हीं उपरोक्त वसदियों के निर्माण की गाथा ये अभिलेख कहते हैं। दण्डनायक मङ्गरय्य ने कत्तले बस्ति अपनी माता पोचब्बे के लिए निर्माण करवाई थी।[46] गन्धवारण वसदि में प्रतिष्ठापित शान्तीश्वर की पादपीठ पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार[47] शान्तलदेवी ने इस बस्दि का निर्माण कराया था तथा अभिषेकार्थ एक तालाब भी बनवाया था।[48] इसी प्रकार भरतय्य ने भी एक तीर्थस्थान पर वसदि का निर्माण कराया, गोम्मटदेव की रङ्गशाला निर्मित कराई तथा दो सौ वसदियों का जीर्णोद्धार कराया।[49] इसके अतिरिक्त समय-समय पर दानकर्त्ताओं ने परकोटे इत्यादि का निर्माण करवाया था।

(५) **मन्दिर निर्माण**–भारतवर्ष में मन्दिर निर्माण की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। आलोच्य अभिलेखों में भी मन्दिर निर्माण के अनेकों उल्लेख प्राप्त होते हैं। राष्ट्रकूट नरेश मारसिंह ने अनेक राजाओं को परास्त किया तथा अनेक जिन मन्दिरों का निर्माण करवाकर अन्त में सल्लेखना व्रत का पालन कर बंकापुर में देहोत्सर्ग किया।[50] अभिलेखों के अध्ययन से इतना तो ज्ञात हो ही जाता है कि मन्दिरों का निर्माण प्रायः बेल्गोल नगर में ही किया जाता था। क्योंकि यह नगर उस समय मे जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र था। शासन वसदि में पार्श्वनाथ की पादपीठ पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार[51] चामुण्ड के पुत्र और अजितसेन मुनि के शिष्य जिनदेवण ने बेल्गोल नगर में जिन मन्दिर का निर्माण करवाया। दण्डनायक एच ने भी कोपड़, बेल्गोल आदि स्थानों पर अनेक जिन मन्दिरों का निर्माण करवाया।[52] आचलदेवी ने पार्श्वनाथ का निर्माण भी बेल्गोल तीर्थ पर ही करवाया।[53] मन्दिर निर्माण में जन-साधारण के अतिरिक्त राजा भी अपना पूर्ण सहयोग देते थे। गङ्ग नरेशों ने कल्लङ्गेरे में एक विशाल जिन मन्दिर व अन्य पाँच जिन मन्दिरों का निर्माण करवाया तथा बेल्गोल नगर में परकोटा, रङ्गशाला व दो आश्रमों सहित चतुर्विंशति तीर्थकर मन्दिर का निर्माण करवाया।[54] राजाओं के अतिरिक्त उनकी पत्नियों द्वारा करवाये

गए मन्दिर निर्माण के उल्लेख भी मिलते हैं।[55] मललकेरे (मनलकेरे) ग्राम में ईश्वर मन्दिर के सम्मुख एक पत्थर पर लिखित एक लेख[56] में वर्णन मिलता है कि सातण्ण ने मनलकेरे में शान्तिनाथ मन्दिर का पुनर्निर्माण तथा उस पर सुवर्ण कलश की स्थापना कराई।

(vi) **मूर्ति निर्माण**–आलोच्य अभिलेखों के अध्ययन से तत्कालीन मूर्ति निर्माण की परम्परा का भी हमें ज्ञान होता है। भारतवर्ष में श्रवणबेल्गोलस्थ बाहुबलि की प्रतिमा सुप्रसिद्ध है। एक अभिलेख के अनुसार[57] इस मूर्ति की प्रतिष्ठापना चामुण्डराज ने करवाई थी। अखण्डबागिलु की शिला पर उत्कीर्ण एक लेख में वर्णन आता है कि भरतमय्य ने बाहुबलि की मूर्ति का निर्माण कराया।[58] किन्तु बाहुबली की मूर्तियों के अतिरिक्त अन्य तीर्थकरों आदि की मूर्तियों के निर्माण के उल्लेख भी अभिलेखों में उपलब्ध होते हैं। तञ्जनगर के शत्तिरम् अप्पाउ श्रावक ने प्रथम चतुर्दश तीर्थकरों की मूर्तियाँ निर्माण कराकर अर्पित की।[59] एक अन्य अभिलेख में भी श्रावक द्वारा पञ्चपरमेष्ठी की मूर्ति निर्मित कराकर अर्पण करने का उल्लेख मिलता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस समय मूर्तियों का निर्माण दानार्थ भेंट करने के लिए भी करवाया जाता था।

(vii) **जीर्णोद्धार**–पुराने मन्दिरों या वसदियों आदि का जीर्णोद्धार करवाना भी उतना ही पुण्य का काम समझा जाता था, जितना कि मन्दिरों को बनवाना। श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में भी जीर्णोद्धार सम्बन्धी उद्धरण पर्याप्त मात्रा में देखे जा सकते हैं। शासन बस्दि के एक लेखक के अनुसार[61] गङ्गराज ने गङ्गवाडि परगने के समस्त जिन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया। महामण्डलाचार्य देवकीर्ति पण्डितदेव ने प्रतापपुर की रूपनारायण वसदि का जीर्णोद्धार व जिननाथपुर में एक दानशाला का निर्माण करवाया।[62] इसके अतिरिक्त पालेद पदुमयण्ण ने एक वसदि का[63] तथा मन्त्री हुल्लराज ने बंकापुर के दो भारी और प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया।[64] इसके अतिरिक्त अन्य अभिलेखों[65] में भी वसदियों या मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाने के उल्लेख मिलते हैं।

(viii) **निषद्या निर्माण**–अर्हदादिकों व मुनियों के समाधिस्थान को निषद्या कहते हैं। श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में निषद्या निर्माण से सम्बन्धित अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। इसका निर्माण प्रकाशयुक्त व एकान्त स्थान पर किया जाता था। यह वसदि से न तो अधिक दूर तथा न ही अधिक समीप होता था। इसका निर्माण समतल भूमि तथा क्षपक वसदि की दक्षिण अथवा पश्चिम दिशा में होता था। अभिलेखों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि निषद्या गुरु, पति, भ्राता, माता आदि की स्मृति में बनवाई जाती थी। चट्टिकब्बे ने अपने पति की निषद्या का निर्माण करवाया था।[66] सिरियब्बे व नागियक्क ने सिङ्गिमय के समाधिमरण करने पर निषद्या का निर्माण करवाया।[67] महानवमी मण्डप में उत्कीर्ण अभिलेख के अनुसार[68] शुभचन्द्र मुनि का स्वर्गवास होने पर उनके शिष्य पद्मनन्दि पण्डितदेव और माधवचन्द्र ने उनकी निषद्या निर्मित करवाई। लक्खनन्दि, माधवेन्द्र और त्रिभुवनमल ने भी अपने गुरु के स्मारक रूप में निषद्या की प्रतिष्ठापना करवाई थी।[69] मुनिराजो के अतिरिक्त राजा या उनके मन्त्री भी अपने गुरु आदि की स्मृति में निषद्या का निर्माण करवाते थे। पोयूसल महाराज गंगनरेश विष्णुवर्द्धन ने अपने गुरु शुभचन्द्र देव की निषद्या निर्मित करवाई थी।[70] मन्त्री नागदेव ने भी अपने गुरु श्री नयनकीर्ति योगीन्द्र की निषद्या निर्मित करवाई।[71] मेघचन्द्र त्रैविद्य के प्रमुख शिष्य प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव ने महाप्रधान दण्डनायक गंगराज से अपने गुरु की निषद्या का निर्माण करवाया था।[72] इनके अतिरिक्त अन्य अभिलेखों में[73] भी निषद्या निर्माण के उल्लेख मिलते हैं।

(ix) **अन्य दान**–पूर्व वर्णित दानों के अतिरिक्त परकोटा निर्माण, तालाब निर्माण, पट्टशाला निर्माण, चैत्यालय निर्माण तथा स्तम्भ प्रतिष्ठा जैसे अन्य दानों के उल्लेख भी आलोच्य अभिलेखों में उपलब्ध होते हैं। गङ्गराज ने गङ्गवाड़ि में प्रतिष्ठापित गोम्मटेश्वर की प्रतिमा का परकोटा तथा अनेक जैन वसदियों का जीर्णोद्धार करवाया।[74] गोम्मटेश्वर द्वार की दायीं ओर एक पाषाण खण्ड पर उत्कीर्ण एक लेख[75] में वर्णन आता है कि बालचन्द्र ने

अपने गुरु के स्मारक स्वरूप अनेक शासन रचे तथा तालाब आदि का निर्माण करवाया। बल्लण के संन्यास विधि से शरीर त्याग करने पर उसकी माता व बहन ने उसकी स्मृति में एक पट्टशाला (वाचनालय) स्थापित करवाई।[76] इनके अतिरिक्त चैत्यालय निर्माण[77] और स्तम्भ प्रतिष्ठापना[78] के वर्णन भी श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में मिलते हैं।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आलोच्यकाल में दान परम्परा का अत्यन्त महत्त्व था। दान प्रायः अपने पूर्वजों की स्मृति में तथा जन-साधारण के उपकार के लिए दिया जाता था। उस समय वसदि निर्माण, मन्दिर निर्माण तथा जीर्णोद्धार, धन दान, मूर्ति दान, निषद्या निर्माण, तालाब, पट्टशाला, चैत्यालय, परकोटा निर्माण आदि के अतिरिक्त निर्माण व जीर्णोद्धार सम्बन्धी कार्यो के लिए ग्राम व भूमि का दान दिया जाता था। ग्राम व भूमि से प्राप्त होने वाली आय से आहार आदि की व्यवस्था भी की जाती थी।

– हिन्दी विभाग
इण्डिया ट्रेड प्रमोशन ऑर्गनाइजेशन
प्रगति भवन, प्रगति मैदान, नई दिल्ली-110001

संदर्भ :

1. परानुग्रहबुद्ध्या स्वस्यातिसर्जन दानम्। (राजवार्त्तिक 6/12/4/522)
2 धवला 13/5, 5-137/389/12।
3 सवार्थसिद्धि 6/12/338/11।
4. सागारधर्मामृत 5/47।
5. जैन शिलालेख सग्रह, भाग एक, लेख सख्या 99-101, 497।
6 पंचविंशतिका 7/13।
7. जै. शि ले. सं भाग एक, ले. स. 99।
8. जै. शि स. भाग एक, ले. सं. 100।
9. वही ले स 101।
10. वही ले. सं. 56।
11. वही ले. स. 83।
12. वही ले. स. 90।
13. वही ले. सं. 124।

14. वही ले स 136।
15 वही ले स 137।
16 वही ले. स 494।
17. वही ले. स 59।
18. वही ले. स. 80।
19 वही ले स 107।
20 वही ले. सं 486।
21. वही ले स. 491।
22 वही ले स 493।
23 वही ले. स 433 एव 480।
24 जैन शि स भाग एक ले स 495।
25. वही ले. स 496 से 499।
26 वही ले स 92।
27. वही ले स 88-89।
28 वही ले स 133।
29 वही ले स 130।
30. वही ले स 24।
31 वही ले स 51।
32 वही ले स 84, 96, 129, 144, 108, 454, 476-77, 484, 490, 498, 500।
33 वही ले स 87।
34 वही ले. स 93।
35 वही ले. स 138।
36 वही ले स 86।
37 जै शि सं भाग एक, ले स 361।
38 वही ले स 91।
39 वही ले. स 97।
40 वही ले स 131।
41 वही ले स 94-95।
42. वही ले स 98।
43. वही ले स 81।
44 वही ले स 135।
45 वही ले. स 492।
46. वही ले. स. 64।
47. वही ले स. 62।
48. वही ले. स 56।
49 वही ले स 115।
50 वही ले सं. 381।
51 वही ले. स 67।
52 जैन शि स भाग एक ले. स 144
53 वही ले स 494।
54 वही ले स. 136।
55 वही ले स 44-53।
56 वही ले स 499।
57. श्री चामुण्डे राजे करवियले। (जै शि स भग एक ले. स. 75)।
58 वही ले सं 115।
59 वही ले सं 411।
60 वही ले स 437।
61 वही ले स. 59।
62 वही ले स 40।
63 वही ले स 470।
64 वही ले स 137।
65 वही ले स. 134, तथा 499।
66 जै शि स भाग एक, ले स 68।
67 वही ले स 52।
68 वही ले स 41।
69 वही ले स 39।
70 वही ले स 43।
71 वही ले स 42।
72 वही ले. स. 47।
73 वही ले स 48, 40, 41।
74 वही ले स 51, 75, 90।
75 वही ले सं 90।
76. वही ले. सं. 51।
77. वही ले. स. 430।
78. वही ले. सं 46।

श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में वर्णित बैंकिंग प्रणाली

–डॉ. बिशनस्वरूप रुस्तगी

बैंकिंग प्रणाली प्राचीन भारत में अज्ञात नहीं थी। बैंकिंग प्रणाली की स्थापना भारतवर्ष में प्राचीन काल में ही हो गई थी किन्तु यह प्रणाली वर्तमान पाश्चात्य प्रणालियों से भिन्न थी। प्राचीन समय में श्रेणी तथा निगम बैंक का कार्य करते थे। देश की आर्थिक नीति श्रेणी के हाथों में थी। वर्तमान काल के 'भारतीय चैम्बर आफ कामर्स' से इसकी तुलना कर सकते हैं। पश्चिम भारत के क्षत्रप नहपान के दामाद ऋषभदत्त ने धार्मिक कार्यों के लिए तंतुवाय श्रेणी के पास तीन हजार कार्षापण जमा किए थे। उसमें से दो हजार कार्षापण एक कार्षापण प्रति सैकड़ा वार्षिक ब्याज की दर से जमा किए तथा एक हजार कार्षापण पर ब्याज की दर तीन चौथाई पण (कार्षापण का अड़तालिसवाँ भाग) थी।[1] इसी प्रकार के सन्दर्भ अन्य श्रेणी, जैसे तैलिक श्रेणी आदि के वर्णनों में भी मिलते हैं। जमाकर्त्ता कुछ धन जमा करके उसके ब्याज के बदले वस्तु प्राप्त करता रहता था।

इसी प्रकार के उल्लेख श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में भी मिलते हैं। दाता कुछ धन या भूमि आदि का दान कर देता था, जिसके ब्याज स्वरूप प्राप्त होने वाली आय से अष्टविध पूजन, वार्षिक पाद पूजा, पुष्प पूजा, गोम्मटेश्वर-प्रतिमा के अभिषेक हेतु दुग्ध की प्राप्ति, मन्दिरों का जीर्णोद्धार, मुनि संघों के लिए आहार का प्रबन्ध आदि प्रयोजनों की सिद्धि होती थी। इस प्रकार इन अभिलेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दसवीं शताब्दी के आसपास बैंकिंग प्रणाली पूर्ण विकसित हो चुकी थी। आलोच्य अभिलेखों में जमा करने की विभिन्न पद्धतियां परिलक्षित होती हैं। गोम्मटेश्वर द्वार के दायीं ओर एक पाषाण खण्ड पर उत्कीर्ण एक अभिलेख के अनुसार[2] कल्लय्य ने कुछ धन इस प्रयोजन से जमा करवाया था कि इसके

ब्याज से छह पुष्प मालाएँ प्रतिदिन प्राप्त होती रहें। इसके अतिरिक्त आलोच्य अभिलेखों में धन की चार इकाइयों–वरह, गद्याण, होन, हग के उल्लेख मिलते हैं। शक संवत् 1748 के एक अभिलेख[3] में वर्णन आता है कि देवराजै अरसु ने गोम्मट स्वामी की पादपूजा के लिए एक सौ बरह का दान दिया। यह धन किसी महाजन या श्रेणी के पास जमा करवा दिया जाता था तथा इसके ब्याज से पाद पूजा के निमित्त उपयोग में आने वाली वस्तुएं खरीदी जाती थीं। तीर्थंकर सुत्तालय में उत्कीर्ण एक लेख[4] में वर्णन आता है कि गोम्मट सेट्टि ने गोम्ममटेश्वर की पूजा के लिए बारह गद्याण का दान दिया। पूजा के अतिरिक्त अभिषेकादि के प्रयोजन से भी धन जमा करवाया जाता था। इस धन पर मिलने वाले ब्याज से नित्याभिषेक के लिए दूध लिया जाता था। एक प्रतिज्ञा-पत्र में[5] वर्णन मिलता कि सोवण्ण ने आदिदेव के नित्याभिषेक के लिए पांच गद्याण का दान दिया, जिसके ब्याज से प्रतिदिन एक 'बल्ल' (सम्भवतः दो लीटर से बड़ी माप की इकाई होती थी) दूध दिया जा सके। विन्ध्यगिरि पर्वत एक अभिलेख[6] के अनुसार आदियण्ण ने गोम्मट देव के नित्याभिषेक के लिए चार गद्याण का दान दिया। इस राशि के एक 'होन' (गद्याण से छोटा कोई प्रचलित सिक्का) पर एक 'हाग' मासिक ब्याज की दर से एक 'बल्ल' दूध प्रतिदिन दिया जाता था। यहीं के एक अन्य अभिलेख के अनुसार[7] गोम्मट देव के अभिषेकार्थ तीन मान (अर्थात् छह लीटर) दूध प्रतिदिन देने के लिए चार गद्याण का दान दिया गया। अन्य अभिलेख में[8] वर्णन मिलता है कि केति सेट्टि ने गोम्मट देव के नित्याभिषेक के लिए तीन गद्याण का दान दिया, जिसके ब्याज से तीन मान दूध लिया जाता था। उपर्युक्त ये तीनों ही अभिलेख तत्कालीन ब्याज की प्रतिशतता जानने के प्रामाणिक साधन हैं किन्तु इन अभिलेखों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उस समय ब्याज की प्रतिशतता कोई निश्चित नहीं थी। क्योंकि वे दोनों लेख एक ही स्थान (विन्ध्यगिरि पर्वत) तथा एक ही वर्ष (शक संवत् 1197) के हैं किन्तु एक अभिलेख मे चार गद्याण के ब्याज से प्रतिदिन तीन मान दूध तथा दूसरे में तीन गद्याण के ब्याज से भी तीन मान दूध प्रतिदिन मिलता था।

पूजा एवं नित्याभिषेकादि के अतिरिक्त प्रयोजनों के लिए भी धन का का दान दिया जाता था। दानकर्त्ता कुछ धन को जमा करवा देता था तथा उससे प्राप्त होने वाले ब्याज से मन्दिरों-वसदियों का जीर्णोद्धार तथा मुनियों को प्रतिदिन आहार दिया जाता था। पहले बेलगोल में ध्वंस वसदि के समीप एक पाषाण खण्ड पर उत्कीर्ण एक अभिलेख[9] में वर्णन आया है कि त्रिभुवनमल्ल एरेयङ्ग ने वसदियो के जीर्णोद्धार एवं आहार आदि के लिए बारह गद्याण जमा करवाए। श्री अतिमब्बे ने भी चार गद्याण का दान दिया।[10] धन दान के अतिरिक्त भूमि तथा ग्राम देने के भी उल्लेख अभिलेखों में मिलते हैं। इसे 'निक्षेप' नाम से संज्ञित किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत कुछ सीमित वस्तु देकर प्रतिवर्ष या प्रतिमास कुछ धन या वस्तु ब्याज स्वरूप ली जाती थी। शक संवत् 1100 के एक अभिलेख के अनुसार[11] बेल्गुल के व्यापारियों ने गङ्गसमुद्र और गोम्मटपुर की कुछ भूमि खरीदकर गोम्मट देव की पूजा के निमित्त पुष्प देने के लिए एक माली को सदा के लिए प्रदान की। चिक्क मदुकण्ण ने भी कुछ भूमि खरीदकर गोम्मट देव की प्रतिदिन पूजा हेतु बीस पुष्प मालाओ के लिए अर्पित कर दी।[12] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भूमि से होने वाली आय का कुछ प्रतिशत धन या वस्तु देनी पड़ती थी। इसी प्रकार के भूमि दान से सम्बन्धित उल्लेख अभिलेखों में मिलते हैं। तत्कालीन समाज में भूमि दान के साथ-साथ ग्राम दान की परम्परा भी विद्यमान थी। ग्राम को किसी व्यक्ति को सौंप दिया जाता था तथा उससे प्राप्त होने वाली आय से अनेक धार्मिक कार्यो का सम्पादन किया जाता था। एक अभिलेख के अनुसार[13] दानशाला और बेल्गुल मठ की आजीविका हेतु 80 वरह की आय वाले कबालु नामक ग्राम का दान दिया गया। इसके अतिरिक्त जीर्णोद्धार, आहार, पूजा आदि के लिए ग्राम दान के उल्लेख मिलते हैं।

आलोच्य अभिलेखों में कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जिसमें किसी वस्तु या सम्पत्ति को न्यास के रूप में रखकर ब्याज पर पैसा ले लिया जाता था तथा पैसा लौटाने पर सम्पत्ति को वापिस कर दिया जाता था।

इस जमा करने के प्रकार को 'अन्विहित' कहा जाता था। ब्रह्मदेव मण्डप के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार[14] महाराजा चामराज औडेयर ने चेन्नन्न आदि साहूकारों को बुलाकर कहा कि तुम बेल्गुल मन्दिर की भूमि मुक्त कर दो, हम तुम्हारा रुपया देते हैं। इसी प्रकार का वर्णन एक अन्य अभिलेख में भी मिलता है।[15] इसके अतिरिक्त प्रतिमास या प्रति वर्ष जमा कराने की परम्परा उस समय विद्यमान थी। इसकी समानता वर्तमान आवर्ति जमा योजना (Recurring Deposit Scheme) से की जा सकती है। इसमें पैसा जमा किया जाता था तथा उसी पैसे से अनेक कार्यो का सम्पादन किया जाता था। विन्ध्यगिरि पर्वत के एक अभिलेख के अनुसार[16] बेल्गुल के समस्त जौहरियों ने गोम्मटदेव और पार्श्वदेव की पुष्प-पूजा के लिए वार्षिक धन देने का संकल्प किया। एक अन्य अभिलेख[17] में वर्णन आता है कि अङ्गरक्षकों की नियुक्ति के लिए प्रत्येक घर से एक 'हण' (सम्भवतः तीस पैसे के समकक्ष कोई सिक्का) जमा करवाया जाता था। जमा करने के लिए श्रेणी या निगम कार्य करता था। इस प्रकार जमा करने की विभिन्न पद्धतियां उस समय विद्यमान थीं।[18]

ब्याज की प्रतिशतता–आलोच्य अभिलेख तत्कालीन ब्याज की प्रतिशतता जानने के प्रामाणिक साधन हैं। इन अभिलेखों में ब्याज के रूप में दूध प्राप्त करने के उल्लेख अधिक मात्रा में हैं। इसलिए सर्वप्रथम हमें दूध के माप की इकाइयॉ जान लेनी चाहिएं। अभिलेखों में दूध के माप की दो इकाइयां मिलती हैं–मान और बल्ल। मान दो लिटर के बराबर का कोई माप होता था तथा बल्ल दो लिटर से बड़ा कोई माप रहा होगा, जो अब अज्ञात है। गोम्मटेश्वर द्वार के दायीं ओर एक पाषाण पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार[19] गोम्मटदेव के अभिषेकार्थ तीन मान दूध प्रतिदिन देने के लिए चार गद्याण का दान दिया। अतः यह समझा जा सकता है कि चार गद्याण का ब्याज इतना होता था जिससे तीन मान अर्थात् लगभग छह लिटर दूध प्रतिदिन खरीदा जा सकता था। किन्तु अन्य अभिलेख[20] के अनुसार केति सेट्टि ने गोम्मटदेव के नित्याभिषेक के लिए तीन गद्याण

का दान दिया, जिसके ब्याज से प्रतिदिन तीन मान दूध लिया जा सके। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि उस समय की ब्याज की प्रतिशतता कोई निश्चित नहीं थी। क्योंकि उपरोक्त दोनों अभिलेख एक ही स्थान तथा एक ही वर्ष के हैं। तब भी जमा की गई राशि भिन्न-भिन्न है। ब्याज की प्रतिशतता के किसी निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले तत्कालीन धन की इकाइयों को जान लेना आवश्यक है।

एक गद्याण	=	60 पै. के समान
एक हण	=	5 पै. के समान
एक वरह	=	30 पै. के समान
एक होन या होग	=	25 पै. के समान
एक हाग	=	3 पै. के समान

इस प्रकार धन की इकाइयों का ज्ञान होने के पश्चात् अभिलेखों में आए ब्याज सम्बन्धी उल्लेखों का समझना सुगम हो जाता है। 1275 ई. के अभिलेख[21] में वर्णन आता है कि आदियण्ण ने गोम्मटदेव के नित्याभिषेक के लिए चार गद्याण का दान दिया। इस रकम के एक 'होन' पर एक 'हाग' मासिक ब्याज की दर से एक 'बल्ल' दूध प्रतिदिन दिया जाए। अतः उस समय 25 पैसे पर 3 पैसे प्रतिमास ब्याज दिया जाता था। जिससे ब्याज की प्रतिशतता 12% निकलती है। जबकि 1206 ई. अभिलेख[22] के अनुसार नगर के व्यापारियों को यह आज्ञा दी गई कि वे सदैव आठ हण का टैक्स दिया करेंगे, जिससे एक हण ब्याज में आ सकता है अर्थात 40 पैसे पर 5 पैसे ब्याज मिलने से यह सिद्ध होता है कि ब्याज की मात्रा 12 1/2% प्रतिमास थी। उपरोक्त दोनों अभिलेखों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बारहवीं–तेरहवीं शताब्दी में ब्याज की मासिक प्रतिशतता 12% के आस-पास थी।

प्राचीन योजनाएं : आधुनिक सन्दर्भ में:–आलोच्य अभिलेखों के अध्ययन से यह ज्ञात होता कि कि उस समय भी आज की भाँति

विभिन्न बैंकिंग योजनाएँ प्रचलित थीं, जिनमें निक्षेप, न्यास, औपनिधिक, अन्विहित, याचितक, शिल्पिन्यास, प्रतिन्यास आदि प्रमुख थीं। ये अभिलेख उस समय की आर्थिक व्यवस्था का दिग्दर्शन कराते हैं जबकि क्रय-विक्रय विनिमय के माध्यम से होता था। जमाकर्त्ता कुछ धन या वस्तु जमा करवाकर उसके बदले ब्याज में नगद राशि न लेकर वस्तु ही लेता था। इसी प्रकार के उद्धरण, जो आलोच्य अभिलेखों में आए हैं, का विवेचन पहले किया जा चुका है। धन जमा करवाकर उसके ब्याज के रूप में दूध या पुष्प आदि लेना या भूमि देकर उससे अन्य अभीप्सित वस्तुओं की प्राप्ति करना।

उपरोक्त प्राचीन योजनाओं में से श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में दो योजनाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिन्हें आधुनिक सन्दर्भ में स्थायी बचत योजना और आवर्ति जमा योजना कहा जा सकता है। स्थायी बचत योजना की समानता प्राचीन काल में प्रचलित 'औपानिधिक' नामक योजना से कर सकते हैं। इसके उदाहरण के रूप में हम उन अभिलेखों को ले सकते हैं जिनमें कुछ धन जमा करवाकर उसके ब्याज के रूप में कोई वस्तु (दूध, पूजा सामग्री आदि) सदैव लेते रहते थे। आवर्ति जमा योजना के अन्तर्गत हम उन उदाहरणों को देख सकते हैं जिनमें कुछ धन की इकाई प्रतिमास, प्रतिवर्ष जमा करवाई जाती थी।[23] इन दो योजनाओं के अतिरिक्त अग्रिम ऋण योजना (Advance Loan Scheme) की झलक भी इन अभिलेखों में मिलती है। इनसे ज्ञात होता है कि सम्पत्ति जमता करने पर कुछ धन ऋण स्वरूप मिल जाता था और जब यह धन जमा न करवाया जा सका तो उसका भुगतान करने की इच्छा महाराजा चामराज औडेयर ने रहनदारों के समक्ष व्यक्त की।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष में बैंकिंग प्रणाली ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी से पहले विद्यमान थी। आलोच्य-काल में बैंक से सम्बन्धित

विभिन्न प्रकार की पद्धतियां विद्यमान थीं तथा जमा राशि पर लगभग 12% ब्याज दिया जाता था।

–रामजस कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली-110007

संदर्भ :

1. ए. इ. भाग आठ नासिक लेख।
2. जै. शि. सं. भाग एक ले. सं. 93।
3. जै. शि. सं. भाग एक, ले. सं. 98।
4. वही ले. सं. 81।
5. वही ले. सं. 131।
6. वही ले. स. 97।
7. वही ले. स. 94।
8. वही ले. सं. 95।
9. वही ले. सं. 412।
10. वही ले. सं. 135।
11. वही ले. सं. 92।
12. वही ले. सं. 495।
13. वही ले. सं. 53, 51, 96, 106, 129, 454, 476 आदि।
14. वही ले. सं. 433।
15. वही ले. सं. 84।
16. वही ले. सं. 140।
17. वही ले. सं. 91।
18. वही ले. सं. 94।
19. जै. शि. स. भा एक, ले स. 95।
20. वही ले. स. 97।
21. वही ले. सं. 128।
22. वही ले. सं. 91, 128, 136 आदि।
23. वही ले. सं. 84, 140।

जन-जन की श्रद्धा के प्रतीक भगवान् गोम्मटेश

–समुत प्रसाद जैन

जैन धर्म के आद्य तीर्थकर ऋषभदेव के परम पराक्रमी पुत्र, पोदनपुर नरेश, प्रथम कामदेव, तद्भव मोक्षगामी बाहुबली की समस्त भारत में गोम्मटेश के रूप में वन्दना की जाती है। भगवान् श्री ऋषभदेव की रानी यशस्वती ने भरत आदि निन्यानवे श्रेष्ठ पुत्र एवं कन्यारत्न ब्राह्मी को जन्म दिया। दूसरी रानी सुनन्दा से सुन्दरी नामक कन्या एवं पुत्र बाहुबली का जन्म हुआ। सुन्दरी और बाहुबली को पाकर रानी सुनन्दा ऐसी सुशोभित हुई जैसे पूर्व दिशा प्रभा के साथ-साथ सूर्य को पाकर सुशोभित होती है। सुन्दर एवं हृष्ट-पुष्ट बालक बाहुबली को देखकर नगर-जन मुग्ध हो जाते थे। नगर की स्त्रियाँ उसे मनोभव, मनोज मनोभू, मन्मथ, अंगज, मदन आदि नामों से पुकारती थीं। अष्टमी के चन्द्रमा के समान बाहुबली के सुन्दर एवं विस्तृत ललाट को देखकर ऐसा लगता था मानो ब्रह्मा ने राज्यपट्ट को बांधने के लिए ही उसे इतना विस्तृत बनाया है। **बाहुबली के वक्षस्थल पर पांच सौ चार लड़ियों से गुम्फित विजयछन्द हार इस प्रकार शोभायमान होता था जैसे विशाल मरकत मणि पर्वत पर असंख्य निर्झर प्रवाहित हो रहे हों।**

भगवान् ऋषभदेव ने स्वयं अपनी सभी पुत्र-पुत्रियों को सभी प्रकार की विद्याओं का अभ्यास एवं कलाओं का परिज्ञान कराया। कुमार बाहुबली को उन्होंने विशेष कामनीति, स्त्री-पुरुषों के लक्षण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, घोड़ा-हाथी आदि के लक्षण जानने के तन्त्र और रत्न परीक्षा आदि के शास्त्रों में निपुण बनाया। सुन्दर वस्त्राभूषणों से सज्जित, विद्याध्ययन में तल्लीन ऋषभ-सन्तति को देखकर पुरजन पुलकित हो उठते थे। आचार्य जिनसेन ने इन पुत्र-पुत्रियों से शोभायमान भगवान् ऋभषदेव की तुलना ज्योतिपी देवों के समूह से घिरे हुए ऊंचे मेरु पर्वत से की है।

उन सब राजकुमारों में तेजस्वी भरत सूर्य के समान सुशोभित होते थे और बाहुबली चन्द्रमा के समान शेष राजपुत्र ग्रह, नक्षत्र तथा तारागण के समान शोभायमान होते थे। ब्राह्मी दीप्ति के समान और सुन्दरी चांदनी के समान कान्ति बिखेरती थीं।

भगवान् ऋषभदेव को कालान्तर में नीलांजना अप्सरा का नृत्य देखते-देखते संसार से वैराग्य हो गया। उन्होंने महाभिनिष्क्रमण के समय अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत का राज्याभिषेक कराकर युवराज पद पर बाहुबली को प्रतिष्ठित किया। शेष पुत्रों के लिए भी उन्होंने विशाल पृथ्वी का विभाजन कर दिया। राजा भरत ने सम्पूर्ण पृथ्वीमंडल को एकछत्र शासन के अन्तर्गत संगठित करने की भावना से दिग्विजय का अभियान किया। उन्होंने अपने परम पौरुष से हिमवान् पर्वत से लेकर पूर्व दिशा के समुद्र तक और दक्षिण समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक समस्त पृथ्वी को वश में कर चक्रवर्ती राज्य की प्रस्थापना की।

साठ हजार वर्ष की विजय यात्रा के उपरान्त सम्राट् भरत ने जब अपनी राजधानी अयोध्या नगरी में प्रवेश किया, उसय समय सेना की अग्रिम पंक्ति में निर्बाध रूप से गतिशील चक्ररत्न सहसा रुक गया। सम्राट् भरत इस घटना से विस्मित हो गए। उन्होंने अपने पुरोहित एवं मन्त्रियों से प्रश्न किया कि अब क्या जीतना शेष रह गया है? निमित्तज्ञानी पुरोहित ने युक्तिपूर्वक निवेदन किया कि आपके भाइयों ने अभी तक आपकी आधीनता स्वीकार नहीं की है।

चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना में संलग्न महाबाहु भरत को यह विश्वास था कि उनके सहोदर उनकी आधीनता को स्वीकार कर लेंगे। किन्तु स्वतन्त्रता प्रेमी सहोदरों द्वारा भरत को इस भूतल का एकमात्र अधिपति न मान पाने के कारण सम्राट् भरत को क्रोध हो आया। उनके मन में यह विश्वास हो गया कि यद्यपि उनके सौ भाई हैं, किन्तु वे सभी स्वयं को अवध्य मानकर प्रणाम करने और मेरी आधीनता मानने से विमुख हो रहे हैं। निमित्तज्ञानी पुरोहित की मन्त्रणा से अनुज बन्धुओं को

अनुकूल बनाने के लिए विशेष दूत भेजे गए। बाहुबली के अतिरिक्त सम्राट् भरत के शेष अन्य सहोदरों ने पिता के न होने पर बड़ा भाई ही छोटे भाईयों के द्वारा पूज्य होता है, ऐसा मानकर अपने पिताश्री से मार्गदर्शन लेने का निर्णय किया। उन्होंने कैलाश पर्वत पर स्थित जगतवन्दनीय भगवान् ऋषभदेव के पावन चरणों की वन्दना के पश्चात् उनसे निवेदन किया–

त्वत्प्रणामानुरक्तानां त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणाम्।
त्वद्वचःकिंकराणां नो यद्वा तद्वाऽस्तु नापरम्।।

(आदिपुराण, पर्व 34/102)

अर्थात् आपको प्रणाम करने में तत्पर, हम लोग अन्य किसी की उपासना नहीं करना चाहते।

तीर्थंकर ऋषभदेव ने अपने धर्मपरायण पुत्रों का मार्गदर्शन करते हुए कहा–

भंगिना किमु राज्येन जीवितेन चलेन किम्।
किं च भो यौवनोन्मादैरैश्वर्यबलदूषितैः।।
किं च भो विषयास्वादः कोऽप्यनास्वादितोऽस्ति वः।
स एव पुनरास्वादः किं तेनास्त्याशितंभवः।।
यत्र शस्त्राणि मित्राणि शत्रवः पुत्रबान्धवाः।
कलत्रं सर्वभोगीणा धरा राज्यं धिगीदृशम्।।
तदलं स्पर्द्धया दध्वं यूयं धर्ममहातरोः।
दयाकुसुममम्लानि यत्तन्मुक्तिफलप्रदम्।।
पराराधनदैन्योनं परैराराध्यमेव यत्।
तद्वो महाभिमानानां तपो मानाभिरक्षणम्।।
दीक्षा रक्षा गुणा भृत्या दयेयं प्राणवल्लभा।
इति ज्याय स्तपोराज्यमिदं श्लाघ्यपरिच्छदम्।।

(आदिपुराण, पर्व 34)

अर्थात् हे पुत्रों ! इस विनाशी राज्य से क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? इस राज्य के लिए ही शत्रु मित्र हो जाते हैं, पुत्र और भाई शत्रु हो जाते हैं तथा सबके भोगने योग्य पृथ्वी ही स्त्री हो जाती है। ऐसे राज्य को धिक्कार हो। तुम लोग धर्म वृक्ष के दयारूपी पुष्प को धारण करो जो कभी भी म्लान नहीं होता और जिस पर मुक्तिरूपी महाफल लगता है। उत्तम तपश्चरण ही मान की रक्षा करने वाला है। दीक्षा ही रक्षा करने वाली है, गुण ही सेवक है, और यह दया ही प्राणप्यारी स्त्री है। इस प्रकार जिसकी सब सामग्री प्रशंसनीय है ऐसा यह तपरूपी राज्य ही उत्कृष्ठ राज्य है। भगवान् ऋषभदेव के मुखारविन्द से सांसारिक सुखों की नश्वरता और मुक्ति लक्ष्मी के शास्वत सुख के उपदेशामृत का श्रवण कर भरत के सभी अनुजों ने दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली। स्वतन्त्रता प्रेमी पोदनपुर नरेश बाहुबली अब सम्राट् भरत के लिए एकमात्र चिन्ता का कारण रह गये।

सम्राट् भरत अपने अनुज बाहुबली के बुद्धिचातुर्य एवं रणकौशल से अवगत थे। आदिपुराण के पैंतीसवें पर्व (पद्य 6-7) में वह बाहुबली को तरुण बुद्धिमान, परिपाटी विज्ञ, विनयी, चतुर और सज्जन मानते हैं। पद्य 8 में वे बाहुबली की अप्रतिम शक्ति, स्वाभिमान, भुजबल की प्रशंसा करते हैं। बाहुबली के सम्बन्ध में विचार करते हुए सम्राट् भरत का मन यह स्वीकार करता है कि वह नीति में चतुर होने से अभेद्य है, अपरिमित शक्ति का स्वामी होने के कारण युद्ध में अजेय है, उसका आशय मेरे अनुकूल नहीं है। इसलिए शान्ति का प्रयोग भी नहीं किया जा सकता। अर्थात् बाहुबली के सम्बन्ध में भेद, दण्ड और साम तीनों ही प्रकार के उपायों से काम नहीं लिया जा सकता। अपभ्रंश कवि स्वयम्भूदेव एवं पुष्पदन्त ने महाबली बाहुबली की अपरिमित शक्ति से सम्राट् भरत को अवगत कराने के लिए क्रमशः मंत्री एवं पुरोहित का विधान किया है। महाकवि स्वयम्भू के पउमचरिउ का मन्त्री राजाधिराज भरत से कहता है–

पोअण-परमेसरु चरम-देहु। अखलिय-मरट्टु जयलच्छि-गेहु।।
दुव्वार-वइरि-वीरन्त-कालु। णामेण वाहुबलि वल-विसालु।।

सीहु जेम पक्खरियउ खन्तिएँ धरियउ जइ सो कह वि वियट्टइ।
तो सहुँ खन्धावारें एक्क-पहारें पइ मि देव दलवट्टइ।।

(पउमचरिउ, चौथी सन्धि 2/6-9)

अर्थात् पोदनपुर का राजा और चरमशरीरी, अस्खलितमान और विजय लक्ष्मी का घर, दुर्जेय शत्रुओं के लिए यम, बल में महान्, नाम से बाहुबली, सिह की तरह संनद्ध परम क्षमाशील वह यदि किसी तरह विघटित होता है तो हे देव ! वह स्कंधावार सहित आपको भी एक ही प्रहार में चूर-चूर कर देगा।

महाकवि पुष्पदन्त ने 'महापुराण' (सन्धि 16/11) में चतुर पुरोहित के द्वारा बाहुबली की साधन सम्पन्नता एवं शौर्य से राजा भरत को परिचित कराते हुए कहा है कि बाहुबली के पास कोश, देश, पदभक्त, परिजन, सुन्दर अनुरक्त अन्तःपुर, कुल, छल-बल, सामर्थ्य, पवित्रता, निखिलजनों का अनुराग, यशकीर्तन, विनय, विचारशील बुध संगम, पौरुष बुद्धि, ऋद्धि, देवोद्यम गज, राजा, जंगम महीधर, रथ, करभ और तुरंगम हैं।

इस प्रकार की अकल्पित स्थिति के निवारण के लिए बाहुबली के पास दूत मन्त्री भेजने का निर्णय लिया गया। महाकवि स्वयम्भू के अनुसार राजा भरत ने अपने मन्त्रियों को परामर्श दिया कि वे बाहुबली को उनकी आज्ञा स्वीकार करने का आदेश दें और यदि वह मेरे प्रभुत्व को स्वीकार न करें तो इस प्रकार की युक्ति निकाली जाए जिससे हम दोनों का युद्ध अनिवार्य हो जाए। महाकवि पुष्पदन्त के पुरोहित ने सम्राट् भरत को परामर्श दिया कि आप उसके पास दूत भेजें। यदि वह आपको नमन करता है तो उसका पालन किया जाए अन्यथा बाहुबली को पकड़ लिया जाए ओर उसे बांधकर कारागार में डाल दिया जाए।

आदिपुराण का सम्राट् भरत बाहुबली द्वारा आधीनता न स्वीकार करने पर दुःखी है और उसकी समझ में यह नहीं आ रहा है कि मेरे अनुज बाहुबली ने ऐसा क्यों किया? उसने बाहुबली को अपने अनुकूल बनाने के लिए निःसृष्टार्थ राजदूत सरस्वती एवं लक्ष्मी से मंडित परमसुन्दर बाहुबली

की अपूर्व कान्ति को देखकर मुग्ध हो गया। बाहुबली के सौन्दर्य में उसे तेज रूप परमाणुओं का दर्शन हुआ। चतुर राजदूत की कूटनीति को विफल करते हुए युवा बाहुबली ने आक्षेप सहित कहा–

प्रेम और विनय ये दोनों परस्पर मिले हुए कुटुम्बी लोगों में ही सम्भव हो सकते हैं। बड़ा भाई नमस्कार करने योग्य है यह बात अन्य समय में अच्छी तरह हमेशा हो सकती है परन्तु जिसने मस्तक पर तलवार रख छोड़ी है उसको प्रणाम करना यह कौन-सी रीति है? तेजस्वी मनुष्यों के लिए जो कुछ थोड़ा-बहुत अपनी भुजारूपी वृक्ष का फल प्राप्त होता है वही प्रशंसनीय है, उनके लिए दूसरे की भौंहरूपी लता का फल अर्थात् भौंह के इशारे से प्राप्त हुआ चार समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का ऐश्वर्य भी प्रशंसनीय नहीं है। जो पुरुष राजा होकर भी दूसरे के अपमान से मलिन हुई विभूति को धारण करता है निश्चय से उस मनुष्यरूपी पशु के लिए उस राज्य की समस्त सामग्री भार के समान है। वन में निवास करना और प्राणों को छोड़ देना अच्छा है किन्तु अपने कुल का अभिमान रखने वाले पुरुष को दूसरे की आज्ञा के अधीन रहना अच्छा नहीं है। धीर-वीर पुरुषों को चाहिए कि वे इन नश्वर प्राणों के द्वारा अपने अभिमान की रक्षा करें क्योंकि अभिमान के साथ कमाया हुआ यश इस संसार को सदा सुशोभित करता है।

सम्राट् भरत की राज्यलिप्सा का विरोध करते हुए बाहुबली स्पष्ट शब्दों में कहते हैं–

दूत तातवितीर्णां नो महीमेनां कुलोचिताम्।
भ्रातृजायामिवाऽऽदित्सो र्नास्य लज्जा भवत्पतेः।।
देयमन्यत् स्वतन्त्रेण यथाकामं जिगषुणा।
मुक्त्वा कुलकलत्रं च क्षमातलं च भुजार्जितम्।।
भूयस्त दलमालप्य स वा भुङ्क्तां महीतलम्।
चिरमेकातपत्राङ्कमहं वा भुजविक्रमी।।

(आदिपुराण, पर्व 35)

हे दूत! पिताजी के द्वारा दी हुई. यह हमारे ही कुल की पृथ्वी भरत के लिए भाई की स्त्री के समान है। अब वह उसे ही लेना चाहता है! तेरे ऐसे स्वामी को क्या लज्जा नहीं आती? जो मनुष्य स्वतन्त्र है और इच्छानुसार शत्रुओं को जीतने की इच्छा रखते हैं वे अपने कुल की स्त्रियों और भुजाओं से कमाई हुई पृथ्वी को छोड़कर बाकी सब कुछ दे सकते हैं। इसलिए बार-बार कहना व्यर्थ है, एक छत्र से चिह्नित इस पृथ्वी को वह भरत ही चिरकाल तक उपभोग करे अथवा भुजाओं में पराक्रम रखने वाला मैं ही उपभोग करूँ। मुझे पराजित किये बिना वह इस पृथ्वी का उपभोग नहीं कर सकता। महाकवि स्वयंभू के 'पउमचरिउ' का मन्त्री राजा बाहुबली को उत्तेजित करने के लिए कहता है कि जिस प्रकार अन्य भाई सम्राट् भरत की आज्ञा मानकर रहते हैं, उसी प्रकार आप भी रहिए। स्वाभिमानी बाहुबली उत्तर देते हैं कि यह धरती तो पिताजी की देन है। मैं किसी अन्य की सेवा नहीं कर सकता। बाहुबली द्वारा अपने पक्ष का औचित्य सिद्ध करने और सम्राट् भरत की आधीनता न स्वीकार करने पर भरत के मन्त्री ने क्रोध के वशीभूत होकर बाहुबली के स्वाभिमान को ललकारते हुए कहा–

'जइ वि तुज्झु इमु मण्डलु वहु-चिन्तिय-फलु आसि समप्पिउ वप्पें।
गामु सीमु खलु खेत्तु वि सरिसव-मेत्तु वि तो वि णाहिँ विणु कप्पें।।

(पउमचरिउ)

अर्थात् यदि तुम समझते हो कि यह धरती-मण्डल तुम्हें पिताजी ने बहुत सोच-विचार कर दिया है, तो याद रखो गांव, सीमा, खलिहान और खेत, एक सरसों भर भी, बिना कर दिये तुम्हारे नहीं हो सकते।

महाभारत में भगवान् कृष्ण से कौरवराज दुर्योधन ने इसी प्रकार की दर्पपूर्ण भाषा का प्रयोग किया था। मन्त्री के प्रत्युत्तर में महापराक्रमी बाहुबली ने वीरोचित उत्तर देते हुए कहा–वह एक चक्र के बल पर गर्व कर रहा है। वह नहीं जानता कि चक्र से उसका मनोरथ सिद्ध नहीं होगा। मैं उसे युद्धक्षेत्र में ऐसा कर दूंगा जिससे उसका मान सदा के लिए चूर हो जाए।

महाकवि पुष्पदन्त के महाकाव्य का राजदूत सम्राट् भरत की अपरिमित शक्ति का विवेचन कर बाहुबली को युद्ध में पराजित होने का भय दिखलाकर भरत को कर देने का सुझाव देता है। स्वाभिमानी बाहुबली अपने आन्तरिक गुणों के अनुरूप राजदूत को गागर में सागर जैसा उत्तर देते हुए कहते हैं–

कंदप्पु अदप्पु ण होमि हउं दूययकरउ णिवारिउ।।
संकप्पें सो महु केरएण पहु डज्झिहइ णिरारिउ।।

(महापुराण)

अर्थात् मैं (कामदेव) हूं, अदर्प (दर्पहीन) नहीं हो सकता। मैंने दूत समझकर मना किया है। मेरे संकल्प से वह राजा निश्चित रूप से दग्ध होगा।

एक सिद्धान्त प्रिय राजा के रूप में बाहुबली राज्य के वर्चस्व को बनाए रखने के लिए अपने पराक्रमी अग्रज भ्राता से भी युद्ध करने को सन्नद्ध हो जाते हैं। एक ऐतिहासिक सत्य यह भी है कि महाकवि स्वयम्भू, आचार्य जिनसेन एवं महाकवि पम्प (सन् 941 ई.) ने 'आदिपुराण' (कन्नड) में यश को ही राजा की एकमात्र सम्पत्ति घोषित किया है। इसीलिए भगवान् बाहुबली के विराट् व्यक्तित्व में 8वीं-9वीं शताब्दी के भारतीय इतिहास के प्राणवान् मूल्य स्वयमेव समाहित हो गए हैं। राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित अपराजेय बाहुबली राज्यलक्ष्मी के मद से पीड़ित राजा भरत के राजदूत के अनीतिपूर्ण प्रस्ताव की अवहेलना करके पोदनपुर के नगरजनों को अपने परिवार का अभिन्न अंग मानते हुए ओजपूर्ण वाणी में कहते हैं–

जं दिण्णं महेसिणा दुरियणासिणा णयरदेसमेत्तं।
तं मह लिहियसासणं कुल विहूसणं हरइ को पहुत्तं।।
केसरिकेसरू वरसइथणयलु, सुहडहु सरणु मज्झु धरणीयलु।
जो हत्थेण छिवइ सो केहउ, किं कयंतु कालाणलु जेहउ।।

(महापुराण)

अर्थात् पापों को नाश करने वाले महर्षि ऋषभ ने जो सीमित नगर देश दिये हैं वह मेरे कुलविभूषित लिखित शासन हैं, उस प्रभुत्व का कौन अपहरण करता है? सिंह की अयाल, उत्तम सती के स्तन तल, सुभट की शरण और मेरे धरणी तल को जो अपने हाथ से छूता है, मैं उसके लिए यम और कालानल के समान हूँ?

पोदनपुर के सुखी नागरिक भी अपने राजा बाहुबली की लोककल्याणकारी नीतियों के अनुगामी थे। युद्ध का अवसर उपस्थित होने पर पोदनपुर के निवासियों में उत्साह का वातावरण बन गया। पोदनपुर की जनता के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए आचार्य जिनसेन ने कहा है, "जो पुरुष अवसर पड़ने पर स्वामी का साथ नहीं देते वे घास-फूस के बने हुए पुरुषों के समान सारहीन हैं।"

चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना में संलग्न सम्राट् भरत ने राजदूतों के विफल हो जाने पर स्वतन्त्रता-प्रेमी राजा बाहुबली के राज्य पोदनपुर पर चतुरंगिनी सेना के द्वारा घेरा डाल दिया।

महाकवि स्वयम्भू के अनुसार राजा बाहुबली के दूतों ने उसे भरत के युद्धाभियान की सूचना देते हुए कहा–शीघ्र ही निकलिए देव! प्रतिपक्ष समुद्र की भांति वेगवान गति से बढ़ रहा है। अपने राज्य पर शत्रु-पक्ष के प्रबल आक्रमण को देखकर शूरवीर बाहुबली ने रणक्षेत्र में विशेष सज्जा की। महाकवि स्वयम्भू के अनुसार बाहुबली की एक ही सेना ने भरत की सात अक्षौहिणी सेना को क्षुब्ध कर दिया। रणक्षेत्र में एकत्रित सम्राट् भरत एवं पोदनपुर नरेश बाहुबली की सेनाओं में युद्ध हुआ अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में जैन पुराणकारों में मतभेद है। आचार्य रविषेण (पद्मपुराण पर्व 4/69) के अनुसार दोनों पक्षों में हाथियों के समूह की टक्कर से उत्पन्न हुए शब्द से युद्ध प्रारम्भ हुआ। उस युद्ध में अनेक प्राणी मारे गए। आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण (सर्ग 11/79) में दोनों सेनाओं के मध्य विवता नदी के पश्चिमी भाग में हुई मुठभेड़ का उल्लेख किया है। महाकवि स्वयम्भू के पउमचरिउ (संधि 4/8/8) के अनुसार रक्तरंजित तीरों

से दोनों सेनाएँ ऐसी भयंकर हो उठीं मानो दोनों कुसुम्भी रंग में रंग गयी हों। महकवि पुष्पदन्त के महापुराण के अनुसार दोनों सेनाओं की युद्ध सज्जा अभूतपूर्व थी और किसी भी क्षण पृथ्वी पर विराट् युद्ध होने की स्थिति बन गई थी। आचार्य जिनसेन के आदिपुराण में दोनों राजाओं की सेनाएं युद्धक्षेत्र में आ गई थीं किन्तु दोनों में युद्ध नहीं हुआ। उनके अनुसार युद्ध का श्रीगणेश होने से पहले ही दोनों पक्षों के मन्त्रियों ने आवश्यक मन्त्रणा के उपरान्त दोनों राजाओं को परस्पर तीन प्रकार के युद्ध–जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध और बाहुयुद्ध के लिए तैयार कर लिया था। स्वयम्भू के 'पउमचरिउ', आचार्य जिनसेन के 'हरिवंशपुराण', पुष्पदन्त के 'महापुराण' के अनुसार दोनों पक्षों के मन्त्रियों ने देशवासियों के व्यापक हित और परिस्थितियों का आकलन करते हुए दोनों राजाओं से परस्पर तीन प्रकार के युद्ध करने का प्रस्ताव रखा था। युद्ध में पराक्रम एवं पौरुष के प्रदर्शन के लिए उत्सुक सेना को युद्ध-विराम का आदेश देने के लिए महाकवि पुष्पदन्त ने एक नाटकीय युक्ति का प्रयोग किया है–

'बिहिं बलहं मज्झि जो मुयइ बाण। तहु होसइ रिसहहु तणिय आण'

अर्थात् दोनों सेनाओं के बीच जो बाण छोड़ता है, उसे श्री ऋषभनाथ की शपथ।

प्रारम्भिक जैन साहित्य का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि युद्धक्षेत्र में दोनों पक्षों के निरपराध योद्धाओं को मृत्यु के मुख का आलिंगन करते हुए देखकर उदारचेता बाहुबली ने स्वयं सम्राट् भरत के सम्मुख दृष्टि युद्ध का प्रस्ताव रखा था। आचार्य रविषेण के अनुसार सम्राट भरत के युद्धोन्मादजन्य परिणामों को दृष्टिगत करते हुए भुजाओं के बल से सुशोभित बाहुबली ने हँसकर राजा भरत से कहा कि इस प्रकार से निरपराध प्राणियों के वध से हमारा और आपका क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है। उसने स्वयं एक महायोद्धा की भाँति मानवीय समस्याओं के निदान के लिए अहिंसक युद्ध का प्रस्ताव राजा भरत के सम्मुख रखा–

अथोवाच विहस्यैवं भरतं बाहुविक्रमी।
किं वराकेन लोकेन निहतेनामुनावयोः।।
यदि निःस्पन्दया दृष्ट्या भवताहं पराजितः।
ततो निर्जित एवास्मि दृष्टियुद्धे प्रवर्त्यताम्।।

(पद्मपुराण, संधि 4/70-71)

जैन संस्कृति के पोषक राजा बाहुबली द्वारा युद्धक्षेत्र में निरपराध मनुष्यों के अनावश्यक संहार से बचने के लिए अहिंसात्मक युद्ध का प्रस्ताव तर्कसंगत लगता है। चक्रवर्ती राज्य की स्थापना में संलग्न आग्रहवादी सम्राट् भरत के लिए दिग्विजय अत्यावश्यक थी। इसीलिए उसे अपने प्राणप्रिय अनुज पर आक्रमण करना पड़ा। इसके विपरीत राजा बाहुबली का उद्देश्य अपने राज्य की प्रभुसत्ता को बनाए रखना था। राजा बाहुबली ने अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए कहा था–

पवसन्तें परम-जिणेसरेण।
जं किं पि विहज्जेवि दिण्णु तेण।।
तं अम्हहुँ सासणु सुह-णिहाणु।
किउ विप्पिउ णउ केण वि समाणु।।
सो पिहिमिहैं हउँ पोयणहों सामि।
णउ देमि ण लेमि ण पासु जामि।।
दिट्ठेण तेण किर कवणु कज्जु।

(पउमचरिउ, सन्धि 4/4)

अर्थात् दीक्षा लेते समय पिताजी ने बँटवारे में जितनी धरती मुझे दी थी, उस पर मेरा सुखद शासन है, किसी के साथ मैंने कुछ बुरा भी नहीं किया। वह भरत तो सारी धरती का स्वामी है, मैं तो केवल पोदनपुर का अधिपति हूं, न तो मैं कुछ देता हूं और न लेता हूं और न उसके पास जाता हूं। उससे भेंट करने में मेरा कौन-सा काम बनेगा?

अतः आत्मविश्वास से मंडित पराक्रमी बाहुबली द्वारा पोदनपुर की

अस्मिता की रक्षा के लिए स्वयं को दांव पर लगा देना असंगत नहीं है वैसे भी बाहुबली को जैन पुराण शास्त्र में प्रथम कामदेव माना गया है। सौन्दर्यशास्त्र के रससिद्ध महापुरुष के लिए अपनी जन्मभूमि अयोध्या और अपने राज्यक्षेत्र पोदनपुर के निवासियों का युद्धोपरान्त दारुण दुःख देखा जाना सम्भव नहीं था। इसीलिए उन्होंने सम्राट् भरत से विजयी होने के लिए तीन प्रकार के युद्धों का प्रस्ताव स्वयं रखा था। आचार्य विमलसूरिकृत 'पउमचरिउ' और 'आवश्यकचूर्णि' की गाथाओं के अनुसार भी राजा बाहुबली ने लोक कल्याण की भावना से अहिंसक युद्ध का प्रस्ताव रखा–

भणओ य बाहुबलिणा, चक्कहरो किं वहेण लायेस्स।
दोण्हं पि होउ जुज्झं, दिट्ठीमुट्ठीहिं रणमज्झे।।

(पउमचरिउ, 4, 43)

ताहे ते सव्वबलेण दो वि देसते मिलिया, ताहे
बाहुबलिणा भणियां–किं अणवराहिणा लोगेण
मारिएण? तुमं अहं च दुयगा जुज्झामो।

(आवश्यकचूर्णि, पृ.210)

सम्राट भरत एवं राजा बाहुबली दोनों को अपने अप्रतिम शौर्य पर अगाध विश्वास था। इसीलिए दोनों चरमशरीरी महायोद्धा तीन प्रकार के प्रस्तावित युद्ध में अपनी शक्ति के परीक्षण के लिए सोत्साह मैदान में उतर गए। तीर्थकर ऋषभदेव के इन दोनों बलशाली पुत्रों को युद्धक्षेत्र में देखकर आचार्य जिनसेन को ऐसा प्रतीत हुआ जैसे निषध और नीलपर्वत पास-पास आ गए हों। उन्होंने युद्धोत्सुक बाहुबली एवं भरत की तुलना क्रमशः ऊंचे जम्बूवृक्ष एवं चूलिकासहित गिरिराज सुमेरू से की है। विजयलक्ष्मी के आकांक्षी सम्राट् भरत एवं बाहुबली के मध्य पूर्व निर्धारित तीनों युद्ध हुए। जैन पुराणकारों ने इन दोनों महापुरुषों के पराक्रम का अद्भुत वर्णन किया है। इनके युद्ध के प्रसंग में जैन काव्यकारों ने लौकिक एवं अलौकिक अनेक उपमानों का सुन्दर संयोजन किया है। सम्राट् भरत एवं राजा बाहुबली के दृष्टियुद्ध का विवरण देते हुए महाकवि स्वयम्भू ने लिखा है–

अवलोइउ भरहें पढमु भाइ। कइलासें कञ्चण-सइलु णाइँ।।
असिय-सियायम्ब विहाइ दिट्ठि। णं कुवलय-कमल-रविन्द-विट्ठि।।
पुणु जोइउ वाहुवलीसरेण। सरे कुमुय-सण्डु णं दिणयरेण।।
अवरामुह-हेट्ठामुह-मुहाइँ। णं वर-वहु-वयण-सरोरुहाइँ।।
उवरिल्लियएँ विसालएँ भिउडि-करालएँ हेट्ठिम दिट्ठि परिज्जय।
णं णव-जोव्वणइत्ती चञ्चल-चित्ती कुलवहु इज्जएँ तज्जिय।।

(पउमचरिउ, सन्धि 4/9)

अर्थात् उन्होंने (नन्दा और सुनन्दा के पुत्रों ने) दृष्टियुद्ध प्रारम्भ किया, सबसे पहले भरत ने अपने भाई को देखा, मानो कैलास पर्वत ने सुमेरु पर्वत को देखा हो। काले और सफेद बादलों के समान उसकी दृष्टि उस समय ऐसी शोभित हो रही थी मानो नीले और सफेद कमलों की वर्षा हो रही हो। उसके बाद बाहुबली ने भरत पर दृष्टिपात किया मानो सूर्य ने सरोवर में कुमुद-समूह को देखा हो। पराजित भरत का मुख उत्तम कुल-वधू की तरह सहसा नीचे झुक गया। बाहुबली की विशाल भौहों वाली दृष्टि से भरत की दृष्टि ऐसी नीची हो गयी जैसे सास से ताड़ित चंचलचित्त नवयौवना कुल-वधू नम्र हो जाती है।

दृष्टियुद्ध में पराजित होने पर भरत एवं बाहुबली में जल-युद्ध एवं बाहु-युद्ध में विजयी होने पर बाहुबली ने पृथ्वी मडल के विजेता राजा भरत को हाथों पर इस प्रकार से उठा लिया जैसे जन्म के समय बालजिन को इन्द्रराज ने श्रद्धा से बाहुओं पर उठा लिया था-

उच्चाइउ उभय-करेंहिं णरिन्दु।
सक्केण व जम्मणें जिण- वरिन्दु।।
एत्थन्तरें वाहुवलीसरासु।
आमेल्लिउ देवेहिं कुसुम-वासु।।

(पउमचरिउ, सन्धि 4/11)

राजा बाहुबली के जयोत्सव पर स्वर्ग के देवों ने हर्षातिरेकपूर्वक पुष्प वृष्टि की। सम्राट् भरत इस पराजय से हतप्रभ हो गये। लोक-नीति का

त्याग करके उन्होंने अपने अनुज बाहुबली के पराभव के लिए अमोघ शस्त्र 'चक्ररत्न' का स्मरण किया। उदार बाहुबली पर 'चक्ररत्न' के प्रयोग को देखकर दोनों पक्षों के न्यायप्रिय योद्धाओं ने सम्राट् भरत के आचरण की निन्दा की। राजा बाहुबली चरमशरीरी थे। फलतः चक्ररत्न उनकी परिक्रमा करके सम्राट् भरत के पास निष्फल होकर लौट आया।

अपने अग्रज भरत की साम्राज्य लिप्सा एवं राज्यलक्ष्मी को हस्तगत करने के लिए स्वबन्धु पर चक्ररत्न के वर्जित प्रयोग को दृष्टिगत करते हुए परमकारुणिक मूर्ति बाहुबली में इस असार संसार के प्रति विरक्त भाव उत्पन्न हो गया। नीतिपरायण धर्मज्ञ सम्राट् भरत के इस अभद्र आचरण को देखकर बाहुबली सोचने लगे–

अचिन्तयच्च किन्नाम कृते राज्यस्य भंगिनः।
लज्जाकरो विधिर्भ्रात्रा ज्येष्ठेनायमनुष्ठितः।।
विपाककटुसाम्राज्यं क्षणध्वंसि धिगस्त्विदम्।
दुस्त्यजं त्यजदप्येतदंगिभिर्दुष्कलत्रवत्।।
कालव्यालगजेनेदमायुरालानकं बलात्।
चाल्यते यद्बलाधानं जीवितालम्बनं नृणाम्।।
शरीरबलंमेतच्च गजकर्णवदस्थिरम्।
रोगा खू पहतं चेदं जरद्देहकुटीरकम्।।
इत्यशाश्वतमप्येतद् राज्यादि भरतेश्वरः।
शाश्वतं मन्यते कष्टं मोहोपहतचेतनः।।

(आदिपुराण, पर्व 36/70-71एवं 88-90)

अर्थात् हमारे बड़े भाई ने इस नश्वर राज्य के लिए यह कैसा लज्जाजनक कार्य किया है। यह साम्राज्य फलकाल में बहुत दुःख देने वाला है, और क्षणभंगुर है इसलिए इसे धिक्कार हो। यह व्यभिचारिणी स्त्री के समान है क्योंकि जिस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री एक पति को छोड़कर अन्य पति के पास चली जाती है उसी प्रकार यह साम्राज्य भी

एक पति को छोड़कर अन्य पति के पास चला जाता है। जिसके बल का सहारा मनुष्यों के जीवन का आलम्बन है ऐसा यह आयुरूपी खम्भा कालरूपी दुष्ट हाथी के द्वारा जबरदस्ती उखाड़ दिया जाता है। यह शरीर का बल हाथी के कान के समान चंचल है और यह जीर्ण-शीर्ण शरीररूपी झोपड़ा रोगरूपी चूहों के द्वारा नष्ट किया हुआ है। इस प्रकार यह राज्यादि सब विनश्वर हैं। फिर भी, मोह के उदय से जिसकी चेतना नष्ट हो गयी है ऐसा भरत इन्हें नित्य मानता है यह कितने दुःख की बात है?

चिन्तन की इसी प्रक्रिया में उन्होंने राज्य के त्याग का निर्णय ले लिया। अपने निर्णय से सम्राट् भरत को अवगत कराते हुए उन्होंने कहा–

देव मज्झु खमभाउ करेज्जसु। जं पडिकूलिउ तं म यसेज्जसु।
अप्पउ लच्छिविलासें रंजहि। लइ महि तुहुं जि णराहिव भुंजहि।
णहणिवडियणीलुप्पलविट्ठिहि। हउं पुणु सरणु जामि परमेट्ठिहि।

(महापुराण,सन्धि 18/2)

अर्थात् हे देव! मुझ पर क्षमाभाव कीजिए और जो मैंने प्रतिकूल आचरण किया है उस पर क्रुद्ध मत होइए। अपने को लक्ष्मीविलास से रंजित कीजिए। यह धरती आप ही लें, और इसका भोग करें। मैं, जिन पर आकाश से नीलकमलों की वृष्टि हुई है, ऐसे परमेष्ठी आदि-नाथ की शरण में जाता हूं।

अनुज के मुखारविन्द से निकली हुई वाणी से भरत के सन्तप्त मन को शान्ति मिली। बाहुबली के विनम्र एवं शालीन व्यवहार को देखकर सम्राट् भरत विस्मयमुग्ध हो गये और उनके उदात्त चरित्र का गुणगान करते हुए कहने लगे–

पइं जिह तेयवंतु ण दिवायरु। णउ गंभीरु होइ रयणायरु। पइं दुज्जसकलंकु पक्खालिउ। णाहिणरिंदवंसु उज्जालिउ। पुरिसरयणु तुहुं जगि एक्कल्लउ। जेण कयउ महु बलु वेयल्लउ। को समत्थु उवसमु पडिवज्जइ। जगि जसढक्क कासु किर वज्जइ। पइं मुएवि तिहुयणि

को चंगउ। अण्णु कवणु पच्चक्खु अणंगउ। अण्णु कवणु जिणपयकयपेसणु। अण्णु कवणु रक्खियणिवसासणु।

(महापुराण, सन्धि 18/3)

तुम जितने तेजस्वी हो, उतना दिवाकर भी तेजस्वी नहीं है। तुम्हारे समान समुद्र भी गम्भीर नहीं है। तुमने अपयश के कलंक को धो लिया है और नाभिराज के कुल को उज्ज्वल कर लिया है। तुम विश्व में अकेले पुरुषरत्न हो जिसने मेरे बल को भी विकल कर दिया। कौन समर्थ व्यक्ति शान्ति को स्वीकार करता है। विश्व में किसके यश का डंका बजता है। तुम्हें छोड़कर त्रिभुवन में कौन भला है? दूसरा कौन प्रत्यक्ष कामदेव है। दूसरा कौन जिनपदों की सेवा करने वाला है और दूसरा कौन नृपशासन की रक्षा करने वाला है।

दीक्षार्थी बहुबली ने सांसारिक सुखो का त्याग करते हुए अपने पुत्र को राज्य भार देकर तपस्या के लिए वन मे प्रवेश किया। उन्होने समस्त भोगों को त्याग कर वस्त्राभूपण उतारकर फेंक दिए और एक वर्ष तक मेरू पर्वत के समान निष्कम्प खड़े रहकर प्रतिमा योग धारण कर लिया।

दीक्षा रूपी लता से आलिंगित बाहुबली भगवान् निवृत्तिप्रधान साधुओं के लिए शताब्दियों से प्रेरणा-पुंज रहे हैं। महाकवि स्वयंभू ने 'पउमचरिउ' में भगवान् बाहुबली की तपश्चर्या का संक्षिप्त किन्तु प्रभावशाली चित्रांकन इस प्रकार किया है–

वेड्ढिउ सुद्दु विसालेहि वेल्ली-जालेहि अहि-विच्छिय-वस्मीयहि।
खणु वि ण मुक्कु भडारउ मयण-वियारउ णं संसारहों भीयहिं।

(पउमचरिउ, संधि 4/12)

अर्थात् पर्वत की तरह अचल और शान्त चित्त होकर खड़े रहे। बड़ी-बड़ी लताओं के जालों, साप-बिच्छुओं और बांवियो से वे अच्छी तरह घिर गये, कामनाशक भट्टारक बाहुबलि एक क्षण भी उनसे मुक्त नहीं हुए। मानो संसार की भीतियों ही ने उन्हें न छोड़ा हो!

महाकवि पुष्पदन्त ने भगवान् बाहुबली की अकाम-साधना को विश्व

की सर्वोपरि उपलब्धि मानते हुए चक्रवर्ती भरत के मुखारविन्द से कहलवाया है–

"थुणइ णराहिउ पयपडियल्लउ पइं मुएवि जगि को विण भल्लउ।
पइं कामें अकामु पारद्धउ पइं राएं अराउ कउ णिद्धउ।
पइं बाले अबालगइ जोइय पइं अपरेण वि परि मइ ढोइय।
पइं जेहा जगगुरुणा जेहा एक्कु दोण्णि जइ तिहुयणि तेहा।"

(महापुराण, 8/9)

अर्थात् आपको छोड़कर जग में दूसरा अच्छा नहीं है, आपने कामदेव होकर भी अकामसाधना आरम्भ की है। स्वयं राजा होकर भी अराग (विराग) से स्नेह किया है, बालक होते हुए भी आपने पण्डितों की गति को देख लिया है। आप और विश्वगुरू ऋषभनाथ जैसे मनुष्य इस दुनियां में एक या दो होते हैं।

भगवान् बाहुबली की कठोर एवं निस्पृह साधना ने जिनागम के सूर्य आचार्य जिनसेन के मानस पटल को भावान्दोलित कर दिया था। इसीलिए उन्होंने अपने जीवन की सांध्य बेला में तपोरत भगवान् बाहुबली की शताधिक पद्यों द्वारा भक्तिपूर्वक अर्चा की है। 'आदिपुराण' के पर्व 36/104 में योगीराज बाहुबली के तपस्वी परिवेश को देखकर उनके भक्तिपरायण मन में पत्तों के गिर जाने से कृश लतायुक्त वृक्ष का चित्र उपस्थित हो गया। साधना काल में भयंकर नागों और वनलताओं से वेष्टित महामुनि बाहुबली के आत्मवैभव का उन्होंने आदिपुराण पर्व 36/109-113 में इस प्रकार दिग्दर्शन कराया है–

दधानः स्कन्ध पर्यन्तलम्बिनीः केशवल्लरीः।
सोऽन्वगादूढकृष्णाहिमण्डलं हरिचन्दनम्।।
माधवीलतया गाढमुपगूढः प्रफुल्लया।
शाखाबाहुभिरावेष्ट्य सध्रीच्येव सहासया।।
विद्याधरी करालून पल्लवा सा किलाशुषत्।
पादयोः कामिनीवास्य सामि नम्राऽनुनेष्यती।।

रेजे स तदवस्थोऽपि तपो दुश्चरमाचरन्।
कामीव मुक्तिकामिन्यां स्पृहयालुः कृशीभवन्।।
तपस्तनूनपात्ताप संतप्तस्यास्य केवलम्।
शरीरमशुषन्नोर्ध्वंशोषं कर्माप्यशर्मदम्।।

अर्थात् कन्धों पर्यन्त लटकती हुई केशरूपी लताओं को धारण करने वाले वे बाहुबली मुनिराज अनेक काले सर्पो के समूह को धारण करने वाले हरिचन्दन वृक्ष का अनुकरण कर रहे थे। फूली हुई वासन्ती लता अपनी शाखारूपी भुजाओं के द्वारा उनका गाढ़ आलिंगन कर रही थी और उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो हार लिये हुए कोई सखी ही अपनी भुजाओ से उनका आलिंगन कर रही हो। जिसके कोमल पत्ते विद्याधरों ने अपने हाथ से तोड़ लिये हैं ऐसी वह वासन्ती लता उनके चरणों पर पड़कर सूख गयी थी और ऐसी मालूम होती थी मानो कुछ नम्र होकर अनुनय करती हुई कोई स्त्री ही पैरों पर पड़ी हो। ऐसी अवस्था होने पर भी वे कठिन तपश्चरण करते थे जिससे उनका शरीर कृश हो गया था और उससे ऐसे जान पड़ते थे मानो मुक्तिरूपी स्त्री की इच्छा करता हुआ कोई कामी ही हो। तपरूपी अग्नि के सन्ताप से सन्तप्त हुए बाहुबली का केवल शरीर ही खड़े-खड़े नहीं सूख गया था। किन्तु दुःख देने वाले कर्म भी सूख गये थे अर्थात् नष्ट हो गये थे।

गोम्मटेश ने दीप्त, तप्तघोर, महाघोर नाम के तपश्चरण किए थे। इन तपों से मुनिराज बाहुबली ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे मेघों के आवरण से निकला हुआ सूर्य अपनी किरणों से जगत् को प्रकाशवान कर देता है। उनकी तपश्चर्या के प्रभाव से परस्पर विरोध भाव रखने वाले जंगल के प्राणियों में भी सद्भाव बन गया था। आचार्य जिनसेन के शब्दों में–

विरोधिनोऽप्यमी मुक्तविरोध स्वैरमासिताः।
तस्योपांघीभसिंहाद्याः शशंसुर्वैभवं मुनेः।
जरज्जम्बूकमाघ्राय मस्तके व्याघ्रधेनुका।
स्वशावनिर्विशेषं तामपीप्यत् स्तन्यमात्मनः।।

करिणो हरिणारातीनन्वीयुः सह यूथपैः।
स्तनपानोत्सुका भेजुः करिणीः सिंहपोतकाः।।
कलमान् कलभांकारमुखरान् नखरैः खरै।
कण्ठीरवः स्पृशन् कण्ठे नाभ्यनन्दि न यूथपैः।

(आदिपुराण, पर्व 36/165.168)

अर्थात् उनके चरणों के समीप हाथी, सिह आदि विरोधी जीव भी परस्पर का वैर-भाव छोड़कर इच्छानुसार उठते-बैठते थे और इस प्रकार वे मुनिराज के ऐश्वर्य को सूचित करते थे। हाल की ब्यायी हुई सिंहनी भैंसे के बच्चे का मस्तक सूँघकर उसे अपने बच्चे के समान अपना दूध पिला रही थी। हाथी अपने झुण्ड के मुखियों के साथ-साथ सिंहों के पीछे-पीछे जा रह थे और स्तन के पीने में उत्सुक हुए सिंह के बच्चे हथिनियों के समीप पहुंच रहे थे। बालकपन के कारण मधुर-शब्द करते हुए हाथियों के बच्चों को सिंह अपने पैने नाखूनों से उनकी गरदन पर स्पर्श कर रहा था और ऐसा करते हुए उस सिंह को हाथियों के सरदार बहुत ही अच्छा समझ रहे थे–उसका अभिनन्दन कर रहे थे।

भगवान् बाहुबली के लोकोत्तर तप के पुण्य स्वरूप तिर्यच जीवों के हृदय में व्याप्त अज्ञानान्धकार नष्ट हो गया था। जंगल के क्रूर जीव शान्ति सुधा का अमृतपान कर अहिसक हो गए थे। भगवान् गोम्मटेश के चरणो के समीप के छिद्रों में से काले फण वाले नागराजों की लपलपाती हुई जिह्वाओं को देखकर प्रातः स्मरणीय आचार्य जिनसेन को भगवान् की पूजा के निमित्त नील कमलो से परिपूरित पूजा की थाली की सहसा स्मृति हो आई–

उपाङ्घ्रि भोगिनां भोगैर्विनीलैर्व्यरुचन्मुनिः।
विन्यस्तैरर्चनायेव नीलैरुत्पलदामकैः।

(आदिपुराण, पर्व 36/171)

दिव्य तपोमूर्ति गोम्मटेश स्वामी की सतत साधना जन-जन की आस्था का केन्द्र रही है। भगवान् बाहुबली के तपोरत रूप से अभिभूत कन्नड कवि गोविन्द पै भाव-विह्वल अवस्था में प्रश्न कर बैठते हैं–'तुम धूप मे मुरझाते नहीं, ठण्ड में ठिठुरते नहीं, वर्षा से टपकते नहीं, तुम्हारे विवाह में दिशारूपी सुहागिनों ने तुम्हारे ऊपर नक्षत्र-अक्षत बरसाए, चन्द्र और सूर्य का सेहरा तुम्हारे सिर पर रखा, मेघ-दुन्दुभि के साथ बिजली से तुम्हारी आरती उतारी, नित्यता-वधू आतुरता से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है! आँखें खोलकर देखते क्यों नहीं? हे गोम्मटेश्वर!' (र.श्री. मुगलि, कन्नड़ साहित्य का इतिहास, पृ. 229)

चक्रवर्ती सम्राट् भरत ने तपोमूर्ति बाहुबली स्वामी द्वारा एक वर्ष की अवधि के लिए धारण किए गए प्रतिमायोग व्रत की समापन वेला के अवसर पर महामुनि बाहुबली के यशस्वी चरणों की पूजा की। पूजा के समय श्री गोम्मटस्वामी को केवलज्ञान हो गया। यह प्रसन्नचित्त सम्राट् भरत का कितना बड़ा अहोभाग्य था! उन्हें बाहुबली स्वामी के केवलज्ञान उत्पन्न होने के पहले और पीछे–दोनों ही समय मुनिराज बाहुबली की विशेष पूजा का अवसर प्राप्त हुआ। सम्राट् भरत ने केवलज्ञान उन्पन्न होने से पहले जो पूजा की थी वह अपना अपराध नष्ट करने के लिए की थी और केवलज्ञान होने के बाद जो विशेष पूजा की वह केवलज्ञान की उत्पत्ति के अनुभव के लिए की थी। आचार्य जिनसेन के अनुसार सम्राट् भरत द्वारा केवलज्ञानी बाहुबली की भक्तिपूर्वक की गई अर्चना का शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। सम्राट् भरत और बाहुबली के अटूट प्रेम संबंध का विवरण देते हुए उन्होंने लिखा है–

स्वजन्मानुगमोऽस्त्येको धर्मरागस्तथाऽपरः।
जन्मान्तरानुबन्धश्च प्रेमबन्धोऽतिनिर्भरः।।
इत्येकशोऽप्यमी भक्तिप्रकर्षस्य प्रयोजकाः।
तेषां नु सर्वसामग्री कां न पुष्णाति सत्क्रियाम्।।

(आदिपुराण, पर्व 36/160-61)

अर्थात् प्रथम तो बाहुबली भरत के छोटे भाई थे, दूसरे भरत को धर्म का प्रेम बहुत था, तीसरे उन दोनों का अन्य अनेक जन्मों से सबंध था, और चौथे उन दोनों में बड़ा भारी प्रेम था। इस प्रकार इन चारों में से एक-एक भी भक्ति की अधिकता को बढ़ाने वाले हैं, यदि यह सब सामग्री एक साथ मिल जाये तो वह कौन-सी उत्तम क्रिया को पुष्ट नहीं कर सकती अर्थात् उससे कौन-सा अच्छा कार्य नहीं हो सकता?

समस्त पृथ्वी पर धर्म साम्राज्य की स्थापना करने वाले चक्रवर्ती सम्राट् भरत को इस सनातन राष्ट्र की सांस्कृतिक सम्पदा–आत्मवैभव से श्रीमंडित सिद्ध पुरुष के रूप में जाना जाता है। इसीलिए उन्हें 'राजयोगी' के रूप में भी स्मरण किया गया है। धर्मप्राण भरत ने जिनेन्द्र बाहुबली के ज्ञान कल्याण की भक्तिपूर्वक रत्नमयी पूजा की थी। उन्होंने रत्नों का अर्घ बनाया, गंगा के जल की जलधारा दी, रत्नो की ज्योति के दीपक चढ़ाये, मोतियों से अक्षत की पूजा की, अमृत के पिण्ड से नैवेद्य अर्पित किया, कल्पवृक्ष के टुकड़ों (चूर्णों) से धूप की पूजा की, पारिजात आदि देववृक्षों के फूलों के समूह से पुष्पो की अर्चा की, और फलो के स्थान पर रत्नो सहित समस्त निधियाँ चढ़ा दीं। इस प्रकार उन्होंने रत्नमयी पूजा की थी।

सम्राट् भरत की भक्तिपरक रत्नमयी पूजा के उपरान्त स्वर्ग के देवों ने भगवान् गोम्मटदेव की विशेष पूजा की । केवलज्ञानलब्धि के समय अनेक अतिशय प्रकट हुए, जैसे–सुगन्धित वायु का संचरण, देवदुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, छत्रत्रय, चंवरों का डुलना, गन्ध कुटी आदि का स्वयमेव प्रकट हो जाना।

आचार्य जिनसेन के अनुसार भगवान् बाहुबली के नाम के अक्षर स्मरण में आते ही प्राणियों का समूह पवित्र हो जाता है। उनके चरणों के प्रताप से सर्पो के मुंह के उच्छवास से निकलती हुई विष की अग्नि शान्त हो जाती है।

तपोनिधि भगवान् गोम्मटेश की विराट् प्रतिमा की संस्थापना की

सहस्राब्दी के उपलक्ष्य में 1681 के महामस्तकाभिषेक के अवसर पर भारतीय डाक व तार विभाग ने एक बहुरंगी डाक-टिकट प्रकाशित करके भगवान् गोम्मटेश की मुक्ति-साधना के प्रति राष्ट्र की श्रद्धा को अभिव्यक्त किया था। अपने इसी वैशिष्ट्य के कारण भगवान् गोम्मटेश शताब्दियों से जन-जन की भावनाओ के प्रतिनिधि रूप में सम्पूजित हैं। आचार्य पुष्पदन्त ने सहस्राधक वर्ष पूर्व सत्य ही कहा था कि भगवान् गोम्मटेश्वर के पवित्र जीवन की गाथा पर्वत की गुफाओं तक में गायी जाती है-मंदरकंदरतं गाइय जस!

जैन पुराण शास्त्रों में भगवान् बाहुबली के प्रकरण मे कुछ विवादास्पद सन्दर्भो का उल्लेख मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द के 'भाव पाहुड' की गाथा सं. 44 में बाहुबली का उल्लेख इस प्रकार मिलता है-"हे धीर-वीर, देहादि के सम्बन्ध से रहित किन्तु मान-कषाय से कलुषित बाहुबली स्वामी कितने काल तक आतापन योग में स्थित रहे?" श्वेताम्बर साहित्य मे तपोरत भगवान् बाहुबली में शल्य भाव की विद्यमानता मानी गई है। श्वेताम्बर साहित्य के अनुसार बाहुबली दीक्षा लेकर ध्यानस्थ हो गए और यह निश्चय कर लिया कि कैवल्य प्राप्त किए बिना भगवान् ऋषभदेव के समवशरण में नहीं जाऊंगा। तीर्थकर ऋषभदेव के समवशरण में जाने पर बाहुबली को अपने से पूर्व के दीखित छोटे भाइयों को नमन करना पड़ता। ऐसी स्थिति में उन्हें सर्वज्ञ होने के उपरान्त ही भगवान् के समवशरण में जाना श्रेयस्कर लगा होगा।

जैन पुराण शास्त्र में उपरोक्त धारणाओं के मूल स्रोत की प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। किन्तु आचार्य रविषेण कृत 'पद्मपुरण', महाकवि स्वयम्भू कृत 'पउमचरिउ', आचार्य जिनसेन कृत 'हरिवंशपुराण' एवं आचार्य जिनसेन कृत 'आदिपुराण' और महाकवि पुष्पदन्त कृत 'महापुराण' का पारायण करने से तपोरत भगवान् बाहुबली में शल्यभाव की विद्यामानता स्वयमेव निरस्त हो जाती है-

ततो भ्रात्रा समं वैरमवबुध्य महामनाः।
संप्राप्तो भोगवैराग्यं परमं भुजविक्रमी।।
संत्यज्य स ततो भोगान् भूत्वा निर्वस्त्रभूषणः।
वर्षं प्रतिमया तस्थौ मेरुवन्निः प्रकम्पकः।।
वल्मीकविवरोद्यातैरत्युग्रैः स महोरगैः।
श्यामादीनां च वल्लीभिः वेष्टितः प्राप केवलम्।।

(पद्मपुराण, पर्व 4/74-76)

आचार्य रविषेण के अनुसार उदारचेता बाहुबली भाई के साथ वैर का कारण जानकर भोगों से विरक्त हो गए और एक वर्ष के लिए मेरु पर्वत के समान निष्प्रकम्प खड़े रहकर प्रतिमा योग धारण कर लिया। उनके पास अनेक वामियां लग गई जिनके बिलों से निकले हुए विशाल सर्पों और लताओं ने उन्हें वेष्टित कर लिया और अन्ततः इसी दशा में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

महाकवि स्वयंभू कृत 'पउमचरिउ' (संधि 4/12) में वाहुबली स्वेच्छा से तपोवन में जाते हैं–

किं आएं साहमि परम-मोक्खु।
जहिं लब्भइ अचलु अणन्तु सोक्खु।।
सुणिसल्लु करेंवि जिणु गुरु भणेवि।
थिउ पञ्च मुट्ठिसिरें लोउ देवि।।
ओलम्बिय-करयलु एक्कु वरिसु।
अविओलु अचलु गिरि-मेरु सरिसु।।

अर्थात् इस पृथ्वी से क्या? मै मोक्ष की समाराधना करूंगा, जिससे अचल, अनन्त और शाश्वत सुख मिलता है। बाहुबली ने निःशल्य होकर जिनगुरु का ध्यान किया और पंचमुष्टियों से केशलोचन किया। बाहुबली दोनों हाथ लम्बे कर एक वर्ष तक मेरु पर्वत की तरह अचल और शान्त चित्त होकर खड़े रहे। महाकवि स्वयंभू ने सन्धि 4/13 में तपोरत बाहुबली में

थोड़ी-सी कषाय अर्थात् भरतभूमि पर खड़े रहने का परिज्ञान, का उल्लेख किया है, शल्य का नहीं। आचार्य जिनसेन कृत 'हरिवंशपुराण' (सर्ग 11/68) में बाहुबली के एक वर्ष के प्रतिमायोग का उल्लेख मिलता है। इसी पद्य में बाहुबली के कैलाश पर्वत पर तपस्या करने का उल्लेख भी आया है। जैन पुराणों में हरिवंशपुराण ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है जिसमें भरत एवं बाहुबली के युद्ध की निश्चित संग्राम भूमि अर्थात् वितता नदी के पश्चिम भाग का उल्लेख मिलता है। सम्भवतया हरिवंशपुराणकार ने ऐसा लिखते समय किसी प्राचीन कृति का आधार लिया होगा। बाहुबली के कैलाश पर्वत पर तपस्या करने के उल्लेख से यह सिद्ध हो जाता है कि तपोरत बाहुबली में शल्य-भाव की विद्यमानता परवर्ती लेखकों की कल्पना मात्र है। महाकवि पुष्पदन्त ने 'महापुराण' (18/5/8) में बाहुबली के कैलाश पर्वत पर तपस्या करने का उल्लेख इस प्रकार किया है–'गए केलासु परायउ भयुबलि।' उन्होनें बाहुबली के चरित्र की विशेषता में 'खाविउं खम भूसणु गुणावंतहं' 'और 'पइं जित्ति खमा वि खम भावे' जैसी काव्यात्मक सूक्तियां लिखकर उन्हे गुणवानों मे सर्वश्रेष्ठ एवं क्षमाभूषण के रूप में समादृत किया है। आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण पर्व (36/137) में सत्य ही कहा है कि तपोरत बाहुबली स्वामी रसगौरव, शब्दगौरव और ऋद्धिगौरव से युक्त थे, अत्यन्त निःशल्य थे और दश धर्मो के द्वारा उन्हें मोक्षमार्ग में दृढ़ता प्राप्त हो गई थी। इस प्रकार उपरोक्त पांचों जैन पुराणों के तुलनात्मक विवेचन से यह सिद्ध होता है कि तपोरत बाहुबली में शल्य भाव नहीं था।

भगवान् बाहुबली का कथानक जैन समाज में अत्यधिक लोकप्रिय रहा है। जैन धर्म की पौराणिक रचनाओं में बाहुबली स्वामी का प्रकरण बहुलता से मिलता है। प्रारम्भिक रचनाओं मे यह कथानक संक्षेप में दिया गया है और परवर्ती रचनाओं में इसका क्रमशः विस्तार होता गया। भगवान् बाहुबली को धीर-वीर उदात्त नायक मानकर अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना हुई है। आधुनिक कन्नड भाषा के अग्रणी साहित्यकार श्री जी. पी. राजरत्नम् ने गोम्मट-साहित्य की विशेष रूप से ग्रन्थ-सूची तैयार की

है, जिसमें कतिपय ऐसे ग्रन्थों का उल्लेख है, जिनकी जानकारी अभी भी अपेक्षित है। संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में निबद्ध 'अनन्त वे मधुर' और 'चारुचन्द्रमा' से प्रायः अधिकांश विद्वान् अपरिचित हैं। पौराणिक मान्यताओं में भगवान् बाहुबली के स्वरूप के विशद विवेचन के लिए बाहुबली साहित्य का मन्थन अत्यावश्यक है। उदाहरण के लिए आचार्य रविषेण (ई. 643-680) ने 'पद्मपुराण' (पर्व 4/77) में भगवान् बाहुबली को इस अवसर्पिणी काल का सर्वप्रथम मोक्षगामी बतलाया है-

ततः शिवपदं प्रापदायुषः कर्मणः क्षये प्रथमं सोऽवसर्पिण्यां मुक्तिमार्ग व्यशोधयत्।।

इसके विपरीत भगवान् बाहुबली के कथानक को जनमानस में प्रतिष्ठित कराने में अग्रणी आचार्य जिनसेन ने भगवान् ऋषभदेव के पुत्र सर्वज्ञ अनन्तवीर्य को इस अवसर्पिणी युग में मोक्ष प्राप्त करने के लिए सब में अग्रगामी (सर्वप्रथम मोक्षगामी) बतलाया है-

सबुद्धोऽनन्तवीर्यश्च गुरोः संप्राप्तदीक्षणः।
सुरैरवाप्तपूजर्द्धिग्रह्यो मोक्षवतामभूत्।।

(आदिपुराण, पर्व 24/181)

इस प्रकार की समस्याओं के समाधान के लिए गम्भीर अध्ययन अपेक्षित है। भगवान् बाहुबली को इस अवसर्पिणी युग का सर्वप्रथम मोक्षगामी स्वीकार करने के कुछ कारण यह हो सकते हैं कि बाहुबली का कथानक आदि युग से जन-जन की जिज्ञासा एवं मनन का विषय रहा है। जैन पुरणों में प्रायः परम्परा रूप मे भगवान् ऋषभदेव की वन्दना की परिपाटी चली आ रही है। इस पद्धति का अनुकरण करते हुए प्रायः सभी पुराणकारों एवं कवियों ने तीर्थकर ऋषभदेव की वन्दना के साथ भरत एवं बाहुबली प्रकरण का उल्लेख किया है। भगवान् बाहुबली की तपश्चर्या, केवलज्ञान लब्धि और मोक्ष का प्रायः सभी पुराणों मे बहुलता से उल्लेख मिलता है। बाहुबली प्रथम कामदेव थे और उन्होंने चक्रवर्ती भरत से पहले

मोक्ष प्राप्त किया था। इसी कारण उन्हें सर्वप्रथम मोक्षगामी भी कहा जाता है।

चक्रवर्ती सम्राट् भरत द्वारा पोदनपुर स्थित भगवान् बाहुबली की 525 धनुष ऊंची स्वर्ण निर्मित प्रतिमा का आख्यान श्रवणबेलगोल स्थित भगवान् गोम्मटेश की ऐतिहासिक मूर्ति के निर्माण का मुख्याधार है। इस लुप्तप्राय तीर्थ का गोम्मटदेव से विशेष सम्बन्ध रहा है। अजेय सेनापति चामुण्डराय द्वारा श्रवणबेलगोल में भगवान् बाहुबली की प्रतिमा के निर्माण से पूर्व के जैन साहित्य में पोदनपुर की सुख-समृद्धि का उल्लेख बहुलता से मिलता है। इस महान् तीर्थ के माहात्म्य को देखते हुए पूज्यपाद देवनन्दि (लगभग 500 ई.) ने निर्वाणभक्ति (तीर्थवन्दना संग्रह, पद्य 26) में इस तीर्थ की गणना सिद्ध क्षेत्र में की है। यदि निर्वाण भक्ति का यह अंश प्रक्षिप्त नहीं है तो पोदनपुर की गणना निश्चय ही प्राचीन तीर्थक्षेत्रों में की जा सकती है।

एक जनश्रुति के अनुसार चक्रवर्ती सम्राट् भरत ने अपने अनुज बाहुबली की तपश्चर्या एवं मोक्षसाधना के उपलक्ष्य में भगवान् गोम्मटेश की राजधानी पोदनपुर में बाहुबली के आकार की 525 धनुष ऊंची स्वर्ण प्रतिमा बनवाई थी। कालान्तर में प्रतिमा के निकटवर्ती क्षेत्र में कुक्कुट सर्पों का वास हो गया और मूर्ति का नाम कुक्कुटेश्वर पड़ गया। कालान्तर में मूर्ति लुप्त हो गई और उसके दर्शन केवल दीक्षित व्यक्तियों के लिए मन्त्र शक्ति से प्राप्त रह गये। जैनाचार्य जिनसेन (आदिपुराण के रचयिता से भिन्न लोककथाओं में उल्लिखित अन्य) के मुखारविन्द से भगवान् बाहुबली की मूर्ति का वर्णन सुनकर सेनापति चामुण्डराय की माता कालिकादेवी ने मूर्ति के दर्शन की प्रतिज्ञा की। अपनी धर्मपरायण पत्नी अजितादेवी से माता की प्रतिज्ञा के समाचार को जानकर चामुण्डराय परिवार जनों के साथ भगवान् गोम्मटेश की मूर्ति के दर्शनार्थ चल दिए। मार्ग में उन्होंने श्रवणबेलगोल के दर्शन किए। रात्रि के समय उन्हें देवी ने स्वप्न में कहा कि कुक्कुट सर्पों के कारण पोदनपुर के भगवान् गोम्मटेश

के दर्शन सम्भव नहीं हैं किन्तु तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् गोम्मटेश तुम्हें इन्द्रगिरि की पहाड़ी पर दर्शन देंगे। चामुण्डराय की माता काललादेवी को भी ऐसा ही स्वप्न आया। सेनापति चामुण्डराय ने स्नान-पूजन से शुद्ध होकर चन्द्रगिरि की एक शिला से दक्षिण दिशा की तरफ मुख करके एक स्वर्ण-बाण छोड़ा जो बड़ी पहाड़ी (इन्द्रगिरि) के मस्तक की शिला में जाकर लगा। बाण के लगते ही भगवान् गोम्मटेश्वर का मुख मंडल प्रकट हो गया। तदुपरान्त सेनापति चामुण्डराय ने कुशल शिल्पियों के सहयोग से अगणित राशि व्यय करके भगवान् गोम्मटेश की विश्वविख्यात प्रतिमा का निर्माण कराया। मूर्ति के बन जाने पर भगवान् के अभिषेक का विशेष आयोजन किया गया। अभिषेक के समय एक आश्चर्य यह हुआ कि सेनापति चामुण्डराय द्वारा एकत्रित विशाल दुग्ध राशि के रिक्त हो जाने पर भी भगवान् गोम्मटेश की मूर्ति की जंघा से नीचे के भाग पर दुग्ध गंगा नहीं उतर पाई। अभिषेक अपूर्ण रह गया। ऐसी स्थिति में चामुण्डराय ने अपने गुरु अजितसेन से मार्गदर्शन की प्रार्थना की। आचार्य अजितसेन ने एक साधारण वृद्धा नारी गुल्लिकायाज्जि को भक्तिपूर्वक 'गुल्लिकायि' (फल का कटोरा) में लाए गए दूध से भगवान् का अभिषेक करने की अनुमति दे दी। महान् गुल्लिकायाज्जि द्वारा फल के कटोरे में अल्पमात्रा में लाए गए दूध की धार से प्रतिमा का सर्वांग अभिषेक सम्पन्न हो गया और सेनापति चामुण्डराय का मूर्ति-निर्माण का दर्प भी दूर हो गया।

भगवान् गोम्मटेश की सातिशययुक्त प्रतिमा के निर्माण सम्बन्धी लोक साहित्य में ऐतिहासिक तथ्यों का समावेश हो गया है। भक्तिपरक साहित्य अथवा दन्तकथाओं से इतिहास को पृथक् कर पाना सम्भव नहीं होता। उदाहरण के लिए इन्द्रगिरि पर सेनापति चामुण्डराय द्वारा भगवान् गोम्मटेश के विग्रह की स्थापना के उपरान्त भी श्री मदनकीर्ति (12वीं शताब्दी) ने पोदनपुर स्थित भगवान् गोम्मटेश की प्रतिमा के अतिशय का चमत्कारपूर्ण वर्णन इस प्रकार किया है–

पादांगुष्ठनखप्रभासु भविनामाभान्ति पश्चाद् भवाः।
यस्यात्मीयभवा जिनस्य पुरतः स्वस्योपवासप्रमाः।।
अद्यापि प्रतिभाति पोदनपुरे यो वन्द्यवन्द्यः स वै।
देवो बाहुबली करोतु बलवद् दिग्वाससां शासनम्।।

(मदनकीर्ति, तीर्थ वन्दन संग्रह, पृ. 3)

कवि के अनुसार पोदनपुर के भगवान् बाहुबली के चरणनखों में भक्तो को अपने पूर्व भवों के दर्शन होते हैं। इस सम्बन्ध में कवि की रोचक कल्पना यह है कि दर्शकों को उसके व्रतों की संख्या के अनुसार ही पूर्व भवों का ज्ञान हो पाता है।

मेरी निजी धारणा है कि इन्द्रगिरि स्थित भगवान् बाहुबली की कलात्मक प्रतिमा का निर्माण अनायास ही नहीं हो गया। इस प्रकार के भव्य निर्माण में शताब्दियों की साधन एवं विचार मंथन का योग होता है। दक्षिण भारत में राष्ट्रकूट शासन के अन्तर्गत महान् धर्मगुरु आचार्यप्रवर वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र ने श्रुत साहित्य एवं जैन धर्म की अपूर्व सेवा की है। इन महान् आचार्यो की सतत साधना एवं अध्यवसाय से जैन सिद्धान्त ग्रन्थ एवं पौराणिक साहित्य का राष्ट्रव्यापी प्रचार-प्रसार हुआ। परमप्रतापी राष्ट्रकूट नरेश आमोघवर्ष (प्रथम) की आचार्य वीरसेन एव जिनसेन में अनन्य भक्ति थी। आचार्य जिनसेन स्वामी ने जीवन के उत्तरार्द्ध में आदिपुराण की रचना की। आदिपुराण के 42 पर्व पूर्ण होने पर उनका समाधिमरण हो गया। समाधिमरण से पूर्व ही उन्होंने भगवान् बाहुबली से सम्बन्धित पर्व 34, 35 और 36 का प्रणयन कर लिया था। भगवान् बाहुबली के चरणों में अपनी आस्था का अर्घ्य समर्पित करते हुए उन्होंने (पर्व 36/212) में भगवान् गोम्मटेश्वर की वन्दना करते हुए कहा था कि योगिराज बाहुबली को जो पुरुष हृदय में स्मरण करता है उसकी अन्तरात्मा शान्त हो जाती है और वह निकट भविष्य में जिनेन्द्र भगवान् की अपराजेय विजयलक्ष्मी (मोक्षमार्ग) को प्राप्त कर लेता है--

जगति जयिनमेनं योगिनं योगिवर्यै-
रधिगतमहिमानं मानितं माननीयैः।
स्मरति हृदि नितान्तं यः स शान्तान्तरात्मा
भजति विजयलक्ष्मीमाशु जैनीमजय्याम्।।

आचार्य जिनसेन अपने युग के परमप्रभावक धर्माचार्य थे। तत्कालीन दक्षिण भारत के राज्यवशों एव जनसाधारण मे उनका विशेष प्रभाव था। शक्तिशाली राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (प्रथम) ने सम्भवतया उन्हीं के प्रभाव से जीवन के अन्तिम भाग में दिगम्बरी दीक्षा ली थी। ऐसे महान् आचार्य एवं कवि के मानस पटल पर अंकित भगवान् बाहुबली की विशाल प्रतिमा को मूर्त रूप देने का विचार जैन धर्मावलम्बियों में निश्चित रूप से आया होगा। धर्मपरायण सम्राट् अमोघवर्ष (प्रथम) का अपने अधीनस्थ राजा बकेय से विशेष स्नेह था। उदार सम्राट् ने राजा बकेय द्वारा निर्मित जिनमन्दिर के लिए तलेमुर गाव का दान भी किया था। जैन धर्म परायण राजा बंकेय ने अपने पौरुष से बंकापुर नाम की राजधानी बनाई जो कालान्तर में जैन धर्म का एक प्रमुख सास्कृतिक केन्द्र बन गयी। सम्राट् अमोघवर्ष (प्रथम) के पुत्र अकाल वर्ष और राजा बंकेय के पुत्र लोकादित्य मे प्रगाढ़ मैत्री थी। सम्राट् अकालवर्ष के राज्यकाल मे राजा लोकादित्य की साक्षी में उत्तरपुराण के पूर्ण हो जाने पर महापुराण की विशेष पूजा का आयोजन हुआ। उत्तरपुराण की पीठिका के आशीर्वचन मे कहा गया है– महापुराण के चिन्तवन से शान्ति, समृद्धि, विजय, कल्याण आदि की प्राप्ति होती है। अत. भक्तजनो को इस ग्रन्थराज की व्याख्या, श्रवण, चिन्तवन, पूजा, लेखन कार्य आदि की व्यवस्था मे रुचि लेनी चाहिए। परवर्ती राष्ट्रकूट नरेशों एवं गंगवशीय शासकों में विशेष स्नेह सम्बन्ध रह है। राष्ट्रकूट नरेश इन्द्र चतुर्थ का गगवंशीय राजा मारसिह ने अभिषेक किया था। राजा इन्द्र चतुर्थ ने जीवन के अन्तिम भाग में सल्लेखना द्वारा श्रवणबेलगोल में देहोत्सर्ग किया। गंगवंशीय राजा मारसिह ने बकापुर मे

आचार्य अजितसेन के निकट तीन दिन तक उपवास रखकर समाधिमरण किया था।

बंकापुर के सांस्कृतिक केन्द्र की गतिविधियों का नियमन आचार्य अजितसेन के यशस्वी मार्गदर्शन में होता था। उनके अगाध पांडित्य के प्रति दक्षिण भारत के राज्यवंशों में विशेष सम्मान भाव था। गगवशीय राजा मारसिंह, राजा राचमल्ल (चतुर्थ), सेनापति चामुण्डराय एवं महाकवि रन्न उनके प्रमुख शिष्य थे। आचार्य अजितसेन की प्रेरणा से स्थापित बंकापुर के सांस्कृतिक केन्द्र में महापुराण के महातपी बाहुबली भगवान् की तपोरत विराट् मूर्ति के निर्माण का विचार निरन्तर चल रहा था।

सेनापति चामुण्डराय ने अपने प्रतापी शासक राजा मारसिंह की समाधि के समय सम्भवतया भगवान् बाहुबली की विशाल प्रतिमा के निर्माण का स्वप्न लिया होगा। दक्षिण भारत के शिल्पियो को संगठित करने में जैन धर्म के यापनीय सघ की प्रभावशाली भूमिका रही है। इस महान् मूर्ति के निर्माण की संकल्पना में आदिपुराण को साकार करने के लिए समर्थ आचार्य अजितसेन और आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती का वरद्हस्त सेनापति चामुण्डराय को उपलब्ध था। आचार्य अजितसेन की परिकल्पना से भगवान् गोम्मटेश्वर का प्रबल पाषाण पर मूल्यांकन आरम्भ हो गया। आचार्यद्वय–अजितसेन एवं नेमिचन्द्र की कृपा से भगवान् गोम्मटेश की लोकोत्तर मूर्ति का निर्माण सम्भव हुआ और इस प्रकार अपराजेय सेनापति चामुण्डराय की धनलक्ष्मी भगवान् गोम्मटेश के चरणों मे सार्थक हुई।

माता गुल्लिकायाज्जि को भगवान् गोम्मटेश्वर के मस्तकाभिषेक के अवसर पर असाधारण गौरव देने में भी सम्भवतया कुछ ऐतिहासिक कारण रहे हैं। दक्षिण भारत में यापनीय संघ के आचार्यो का अनेक राज्यवंशों एव जनसाधारण पर अपने असाधारण कृतित्व का प्रभुत्व रहा है। कन्नड़ भाषा के प्रारम्भिक अभिलेखों मे यापनीय संघ के साधुओं का अनेकशः उल्लेख

मिलता है। इस सम्प्रदाय में अनेक प्रतिभाशाली आचार्य एवं कवि हुए हैं, जिन्होंने संस्कृत, प्राकृत, कन्नड आदि भाषा में शताधिक प्रतिष्ठित ग्रन्थों की रचना की है।

भगवान् गोम्मटेश्वर के विग्रह के यशस्वी निर्माता राजा चामुण्डराय अनेक युद्धों के विजेता थे। उन्होंने अपने स्वामी राजा मारसिंह एवं राजा राचमल्ल (चतुर्थ) के लिए अनेक युद्ध किए थे। उनके पराक्रम से शत्रु भयभीत हो जाते थे। त्यागब्रह्मदेव स्तम्भ पर उत्कीर्ण एक पाषाण लेख (106/281) में उनके कुल एवं विजय अभियानों का ऐतिहासिक विवरण इस प्रकार मिलता है–

ब्रह्म-क्षत्र-कुलोदयाचल-शिरोभूषामणिर्भानुमान्
ब्रह्म-क्षत्रकुलाब्धि-वर्द्धन-यशो-रोचिस्सुधा-दीधितिः।
ब्रह्म-क्षत्र-कुलाकराचल-भव-श्री-हार वल्लीमणिः
ब्रह्म-क्षत्र-कुलाग्निचण्डपवनश्चावुण्डराजोऽजनि।
कल्पान्त-क्षुभिताब्धि-भीषण-बलं पातालमल्लानुजम्
जेतुं वज्विलदेवमुद्यतभुजस्येन्द्र-क्षितीन्द्राज्ञया।
पत्युश्श्री जगदेकवीर नृपतेर्जैत्र-द्विपस्याग्रतो
धावद्दन्तिनि यत्र भग्नमहितानीकं मृगानीकवत्।
अस्मिन् दन्तिनि दन्त-वज्र-दलित-द्विट्-कुम्भि-कुम्भोपले
वीरोत्तंस-पुरोनिषादिनि रिपु-व्यालांकुशे च त्वयि।
स्यात्कोनाम न गोचर्प्रतिनृपो मद्बाण-कृष्णोरग-
ग्रासस्येति नोलम्बराजसमरे यः श्लाघितः स्वामिता।
खातः क्षार-पयोधिरस्तु परिधिश्चास्तु त्रिकूटपुरी
लंकास्तु प्रतिनायकोऽस्तु च सुराराितिस्तथापि क्षमे।
तं जेतुं जगदेकवीर-नृपते त्वत्तेजसेतिक्षणान्-
निर्व्यूढं रणसिंग-पार्त्थिव-रणे येनोर्ज्जितं गर्ज्जितम्।

वीरस्यास्य रणेषु भूरिषु वय कण्ठग्रहोत्कण्ठया
तप्तास्सम्प्रति लब्ध-निर्व्वृतिरसास्त्वत्खड्ग-धाराम्भसा।
कल्पान्तं रणरंगसिंग-विजयी जीवेति नाकांगना
गीर्व्वाणी-कृत-राज-गन्ध-करणि यस्मै वितीर्ण्णाशिषः।
आक्रष्टुं भुज-विक्रमादभिलषन् गंगाधिराजय-श्रियं
येनादौ चलदंक-गंगनृपतिर्व्यर्त्थाभिलाषीकृतः।
कृत्वा वीर-कपाल-रत्न-चषके वीर-द्विषश्शोणितम्
पातुं कौतुकिनश्च कोणप-गणाः पूर्ण्णाभिलाषीकृताः।

धर्मपरायण माननीय श्री हर्गडे जी (लगभग ई. 1200) ने इसी स्तम्भ पर रक्ष देवता की मूर्ति का निर्माण कराने के लिए इस दुर्लभ अभिलेख को तीन ओर से घिसवा दिया। किन्तु श्री हर्गडे जी के इस भक्तिपरक अनुष्ठान के कारण इस शिलालेख के महत्त्वपूर्ण अश लुप्त हो गए है। परिणामस्वरूप जैन समाज महान् सेनानायक चामुण्डराय और गोम्मट विग्रह के निर्माण की प्रामाणिक जानकारी से वंचित रह गया है। चामुण्डराय के पुत्र आचार्य अजितसेन के शिष्य जिनदेवण ने लगभग 1040 ई. में श्रवणवेलगोल में एक जैन मन्दिर (अभिलेख 67 (121)) वनवाकर अपने यशस्वी पिता की भांति भगवान् गोम्मटेश के चरणो मे श्रद्धा अर्पित की थी। आचार्य अजितसेन की यशस्वी शिष्य परम्परा कनकनन्दि, नरेन्द्रसेन (प्रथम), त्रिविधचक्रेश्वर, नरेन्द्रसेन, जिनसेन और उभयभाषा चक्रवर्ती मल्लिषेण की श्रवणवेलगोल के विकास एवं संरक्षण मे रुचि रही है।

श्रवणबेलगोल स्थित भगवान् गोम्मटस्वामी की नयनाभिराम प्रतिमा अपने निर्माणकाल से ही जन-जन की आस्था के प्रतीक रूप में सम्पूजित रही है। एक लोककथा के अनुसार स्वर्ग के इन्द्र एव देवगण भी इस अद्वितीय प्रतिमा की भुवनमोहिनी छवि के दर्शन के निमित्त भक्ति भाव से पृथ्वी की परिक्रमा करते है। भगवान् गोम्मटस्वामी के विग्रह के निर्माण मे अग्रणी सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र ने कर्मकाण्ड की गाथा म 969 में भगवान् वाहुवली स्वामी की विशाल प्रतिमा के लोकोत्तर स्वरूप

का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि उसे सर्वार्थसिद्धि के देवों ने और सर्वावधि-परमावधिज्ञान के धारी योगियों ने दूर से देखा।

इन्द्रगिरि पर स्थित भगवान् गोम्मटेश की तपोरत प्रतिमा के चरणों में अपनी भक्ति का अर्घ्य समर्पित करते हुए आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने कहा है–

उपाहिमुत्तं धणधाम-वज्जियं,
सुसम्मजुत्तं मय-मोहहारयं।
वस्सेय पज्जंतमुववास-जुत्तं,
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं।।

(गोम्मटेस-थुदि, पद सं. 8)

अर्थात् समस्त उपाधियों से मुक्त होकर, धनधाम आदि सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़कर, मद-मोह आदि विकारों को निरस्त करके, सुखद समभाव से परिपूरित जिन्होंने एक वर्ष का उपवास किया, उन भगवान् गोम्मटेश्वर का मै नित्य नमन करूं।

दक्षिण भारत मे कर्नाटक राज्य के उदार होयसल वंशी नरेशों के राज्यकाल में जैनधर्म का विशेष संरक्षण हुआ। होयसल नरेश राजा विनयादित्य का समय भारतीय इतिहास में 'जैन मन्दिरों के निर्माण का स्वर्णयुग' माना जाता है। श्रवणवेलगोल से प्राप्त एक अभिलेख (लेख सं. 53 (143) में कहा गया है कि उन्होंने कितने ही तालाव व जैन मन्दिर निर्माण कराये थे। यहाँ तक कि ईंटों के लिए जो भूमि खोदी गई वहाँ तालाव बन गये, जिन पर्वतों से पत्थर निकाला गया वे पृथ्वी के समतल हो गये, जिन रास्तों से चूने की गाड़ियाँ निकली वे रास्ते गहरी घाटियाँ हो गये। इसी वंश के प्रतापी राजा विष्णुवर्धन (ई. 1109 से 1141) के राज्यकाल में होयसलेश्वर एव शातलेश्वर के विश्व प्रसिद्ध शिवालयों का निर्माण हुआ। उपरोक्त मन्दिरों के लिए विशाल नंदी-मण्डप वनाए गए। सैकड़ों शिल्पियों के संयुक्त परिश्रम से कई मास में नन्दियों की मूर्ति

बनकर तैयार हुई। विशाल नन्दियों की मूर्ति को बैलगाडियों और वाहनो द्वारा देवालय तक ले जाना असम्भव था। नवनिर्मित नन्दी की प्रतिमाएँ मन्दिर तक कैसे पहुंची इसका रोचक विवरण श्री के. वी. अय्यर ने 'शान्तला' में एक स्वप्न-कथा के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

"देव, नन्दी-पत्थर के नन्दी चले आ रहे है! वे जीवित हैं! उनका शरीर सोने के समान चमक रहा है! वहाँ जो प्रकाश फैला है, वह नन्दियों के शरीर की कांति ही है। प्रभो, उनकी आंखें क्या हैं, जलते हुए अंगारे है! हम लोगों ने जो कुछ देखा, वही निवेदन कर रहे हैं। महाप्रभो, इसमे कोई अतिशयोक्ति नहीं है। यदि यह असत्य हो, तो हम अपने सिर देने के लिए तैयार हैं। कैसा आश्चर्य है! पत्थर के नन्दी चले आ रहे है। भगवान् बाहुबली स्वामी–विराट् शिला-प्रतिमा–स्वयं नन्दियो को चलाते आ रहे हैं! अटारी पर खड़े होकर अपनी आँखों से हमने यह दृश्य देखा है। फौरन ही आपके पास आकर समाचार सुना दिया है। शिला-कृतियां जीवित हो उठी हे–यह कैसा अद्भुत काल है। अप्पा जी (नरेश विष्णुवर्धन) ने कहा–'तुम लोग धन्य हो कि सबसे पहले ऐसे दृश्य को देखने का सौभाग्य प्राप्त किया! जाओ, सबको यह संतोष का समाचार सुनाओ कि जीवित नन्दी पैदल चले आ रहे हैं और भगवान् बाहुवली उन्हे चलाते आ रहे हैं।

जब उपस्थित लोगों को यह मालूम हुआ, तब उनके आनन्द की सीमा न रही। उन्नत सौधाग्रों तथा वृक्षों के शिखरों पर चढ़कर लोग इस दृश्य को देखने लगे। लगभग तीन कोस की दूरी पर भगवान् बाहुबली–श्रवलबेलगोल के गोम्मटेश्वर स्वामी–नन्दियों को चलाते आ रहे थे। महोन्नत शिलामूर्ति जो कि बारह पुरुषों के आकार-सी बड़ी है–एक सजीव, सौम्य पुरुष के रूप में दिखाई दे रही थी। गोम्मटेश्वर के प्रत्येक कदम पर धरती कॉपने लगती थी। उनके पद-तल मे जितने लता-गुल्म पड़ते थे, चूर-चूर हो जाते थे। अहंकार की भॉति जमीन के ऊपर सिर

उठाये हुए शिला-खण्ड भगवान् बाहुबली के पदाघात से भूमि में धँस जाते थे। नन्दियों के बदन से सोने की-सी छवि छिटकती थी। उनके गले मे बंधे हुए, पीठ कर लटकते हुए नाना प्रकार के छोटे-बड़े घंटे, कमर पर, बगल में, पैरों में लगे हुए घुँघरू मधुर निनाद कर रहे थे, जिनकी प्रतिध्वनि कानन में सर्वत्र गूंज रही थी। × × ×

वे नन्दी ! दीदी, सुनहले रंग के नन्दी। मेरु पर्वत की भाँति उन्नत, पुष्ट, उत्तम आभरणों से सजे हुए नन्दियों को परम सौम्य एवं सुन्दर भगवान् बाहुबली को चलाते हुए आना ऐसा भव्य दृश्य था जिसकी महत्ता का परिचय उसे स्वयं देखने पर ही हो सकता है। शब्दों से उसका वर्णन करना सचमुच असभव ही है। लोग परस्पर कहने लगे–'इससे बढ़कर पुण्य का दृश्य और कहाँ देखने को मिलेगा। इसे देखकर हमारी आँखें धन्य हुई। मरते दम तक मन मे इस दृश्य को रखकर जी सकते हैं।' × × ×

बाहुबली स्वामी नन्दियों को देवालय के महाद्वार तक चलाते आये। तब अप्पाजी, तुम, छोटी दीदी, मैं तथा उपस्थित सब लोगों ने आनन्द तथा भक्ति से हाथ जोडकर बाहुबली तथा नन्दियों के चरणों पर सिर रखकर प्रणाम किया। महाद्वार के ऊपर से लोगों ने पुष्पों से महाबलि स्वामी का मस्तकाभिषेक किया।" (पृ. 232, 233, 240)

प्रस्तुत अश के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि भगवान् बाहुबली जैन एवं जैनेतर धर्मो के परमाराध्य पुरुष के रूप मे शताब्दियो से वन्दनीय रहे है। शैव मन्दिर के निर्माण की परिकल्पना मे भगवान् बाहुबली का भक्ति एव श्रद्धा से स्मरण और उनका सुगन्धित पुष्पो से देवालय के महाद्वार पर पुष्पाभिषेक यह सिद्ध करता है कि भगवान् बाहुबली जैन समाज के ही नहीं अपितु सम्पूर्ण कर्नाटक राज्य की अर्चा के प्रमुख देवपुरुष रहे है। सम्राट् विष्णुवर्धन के प्रतापी सेनापति ने विषम परिस्थितियों मे भी होयसल राज्य की कीर्ति-पताका के लिए कठोर श्रम किया था। शातला के लेखक श्री के. वी. अय्यर के अनुसार–

"पत्तों की आड में छिपे हुए सुगन्धि पुष्प की भाँति गंगराज ने होयसल राज्य का निर्माण करके निष्काम कर्मी कहलाकर वे परम पद को प्राप्त हुए।" इन्हीं महान् गगराज ने गोम्मटेश्वर का परकोटा बनवाया, गंगवाडि परगने के समस्त जिन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया, तथा अनेक स्थानों पर नवीन जिनमन्दिर निर्माण कराये। प्राचीन कुन्दकुन्दान्वय के वे उद्धारक थे। इन्ही कारणो से वे चामुण्डराय से भी सौगुणे अधिक धन्य कहे गये हैं।

राजा विष्णुवर्धन के उत्तराधिकारी नरसिंह प्रथम (ई0 1141 से 1172) अपनी दिग्विजय के अवसर पर श्रवणबेलगोल आए और गोम्मट देव की विशेष रूप से अर्चा की। उन्होंने अपने विशेष सहायक पराक्रमी सेनापति एवं मन्त्री हुल्ल द्वारा बेलगोल में निर्मित चतुर्विंशति जिन मन्दिर का नाम 'भव्यचूड़ामणि' कर दिया और मन्दिर के पूजन, दान तथा जीर्णोद्धार के लिए 'सवणेरु' ग्राम का दान कर भगवान् गोम्मटेश के चरणो मे अपने राज्य की भक्ति को अभिव्यक्त किया। मन्त्री हुल्ल ने नरेश नरसिंह प्रथम की अनुमति से गोम्मटपुर के तथा व्यापारी वस्तुओं पर लगने वाले कुछ कर (टैक्स) का दान मन्दिर को कर दिया। होयसल राज्य के विघटन पर दक्षिण भारत में विजयनगर सर्वधर्म सद्भाव की परम्परा मे अटूट आस्था रखते थे। उनके राज्यकाल मे एक वार जैन एवं वैष्णव समाज मे गम्भीर मतभेद हो गया। जैनियों में से आनेयगोण्डि आदि नाडुओं ने राजा वुक्काराय से न्याय के लिए प्रार्थना की। राजा ने जैनियों का हाथ वैष्णवों के हाथ पर रखकर कहा कि धार्मिकता में जैनियों और वैष्णवों में कोई भेद नहीं है। जैनियों को पूर्ववत् ही पच्चमहावाद्य और कलश का अधिकार है। जैन दर्शन की हानि व वृद्धि को वैष्णवों को अपनी ही हानि व वृद्धि समझना चाहिए। न्यायप्रिय राजा ने श्रवणबेलगोल के मन्दिरों की समुचित प्रवन्ध व्यवस्था और राज्य में निवास करने वाले विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में सद्भावना की कड़ी को जोड़कर भगवान् गोम्मटेश के चरणों मे श्रद्धा के सुमन अर्पित किए थे। वास्तव में भगवान् गोम्मटेश

राष्ट्रीय एकता एवं विश्वबन्धुत्व के अनुपम उपमेय हैं।

मैसूर राज्यवंश आरम्भ से ही भगवान् गोम्मटेश की असीम भक्ति के लिए विख्यात रहा है। इस तीर्थ की प्रबन्ध व्यवस्था एवं विकास में मैसूर नरेशों, मन्त्रियों, राज्य अधिकारियों एवं जनसाधारण का विशिष्ट सहयोग रहा है। श्रवणबेलगोल के मन्दिरो पर आई भयंकर विपदा को अनुभव करते हुए मैसूर नरेश चामराज ओडेयर ने वेलगोल के मन्दिरों की जमीन को ऋण से मुक्त कराया था। एक विशेष आज्ञा द्वारा उन्होंने मन्दिर को रहन करने व कराने का निषेध किया था। श्रवणबेलगोल के जैन मठ के परम्परागत गुरु चारुकीर्ति जो तेलगु सामन्त के त्रास के कारण अन्य किसी स्थान पर सुरक्षा की दृष्टि से चले गये थे। मैसूर नरेश ने उन्हें ससम्मान वापिस बुलाया और पुनः मठ में प्रतिष्ठित करके श्रवणबेलगोल की ऐतिहासिक परम्परा को प्राणवान् बनाया। जैन शिलालेख सग्रह मे संग्रहित अभिलेख 84 (250), 140 (352), 444 (365), 83 (246), 433 (353), 434 (354) मैसूर राज्यवश की गोम्मटस्वामी में अप्रतिम भक्ति के द्योतक हैं। मैसूर राज्यवंश एव उसके प्रभावशाली जेनेतर पदाधिकारियों की भगवान् गोम्मटेश के चरणों में अटूट आस्था का विवरण देते हुए श्वेताम्बर मुनि श्री शील विजय जी ने अपनी दक्षिण भारत की यात्रा (वि. सं. 1731-32) में लिखा है–

"मैसूर का राजा देवराय भोज सरीखा दानी है और मद्य-मांस से दूर रहने वाला है। उसकी आमदनी 65 लाख की है। जिसमें से 18 लाख धर्म कार्य में खर्च होता है। यहाँ के श्रावक बहुत धनी, दानी और दयापालक हैं। राजा के ब्राह्मण मंत्री विशालाक्ष (वेलान्दुर पंडित) विद्या, विनय और विवेकयुक्त हैं। जैन धर्म का उन्हें पूरा अभ्यास है वे जिनागमों की तीन बार पूजा करते हैं, नित्य एकाशन करते हैं और भोजन में केवल 12 वस्तुएँ लेते हैं। प्रतिवर्ष माघ की पूनों को गोम्मटस्वामी का एक सौ आठ कलशों से पंचामृत अभिषेक कराते हैं। बड़ी भारी रथ यात्रा होती है।" (नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य का इतिहास, पृ. 556)।

मैसूर राज्यवंश परम्परा से भगवान् बाहुबली के मस्तकाभिषेक में श्रद्धा से रुचि लेता आया है। सन् 1826 में आयोजित मस्तकाभिषेक के अवसर पर संयोगवश श्रवणबेलगोल में महान् सेनापति चामुण्डराय के वंशज मैसूर नरेश कृष्णराज वडेयर के प्रधान अंगरक्षक की मृत्यु हो गई थी। उनके पुत्र पुट्ट दैवराजे अरसु ने अपने पिता की पावन स्मृति में गोम्मटस्वामी की वार्षिक पाद पूजा के लिए उक्त तिथि को 100 'वरह' का दान दिया। गोम्मटेश्वर तीर्थक्षेत्र की पूजा-अर्चा आदि के लिए इसी प्रकार से अनेक भक्तिपरक अभिलेख श्रवणबेलगोल से प्राप्त होते हैं।

श्रवणबेलगोल स्थित भगवान् गोम्मटस्वामी की विशाल एवं उत्तुंग प्रतिमा का रचनाशिल्प एवं कला कौशल दर्शनार्थियों को मन्त्रमुग्ध कर देता है। ऐसी स्थिति में कला प्रेमियो को अनायास जिज्ञासा होती है कि आज से सहस्राधिक वर्ष पूर्व भगवान् बाहुबली की इतनी विराट् मूर्ति का निर्माण कैसे किया गया होगा, किस प्रकार इस विशालकाय मूर्ति को पर्वत पर लाया गया होगा और कैसे इसे पर्वत पर स्थापित किया गया होगा? इन्द्रगिरि पर्वत पर स्थिति भगवान् गोम्मटेश्वर की प्रतिमा के निर्माण, कला-कौशल, रचना-शिल्प आदि के सम्बन्ध में महान् पुरातत्ववेत्ता श्री के. आर. श्रीनिवासन् द्वारा प्रस्तुत शोधपूर्ण जानकारियां अत्यन्त उपादेय हैं। विद्वान् लेखक ने भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित 'जैन कला एवं स्थापत्य' खंड 2 के अन्तर्गत 'दक्षिण भारत' (600 से 1000 ई0) की मूर्ति कला का विवेचन करते हुए अपनी मान्यताओ को इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

"श्रवणबेलगोल की इन्द्रगिरि पहाड़ी पर गोम्मटेश्वर की विशाल प्रतिमा मूर्तिकला में गंग राजाओं की और, वास्तव मे, भारत के अन्य किसी भी राजवंश की महत्तम उपलब्धि है। पहाड़ी की 140 मीटर ऊंची चोटी पर स्थित यह मूर्ति चारों ओर से पर्याप्त दूरी से ही दिखाई देती है। इसे पहाड़ी की चोटी के ऊपर प्रक्षिप्त ग्रेनाइट की चट्टान को काटकर बनाया गया है। पत्थर की सुन्दर रवेदार उकेर ने निश्चय ही मूर्तिकार को व्यापक रूप से

संतुष्ट किया होगा। प्रतिमा के सिर से जांघों तक अंग-निर्माण के लिए चट्टान के अवांछित अंशों को आगे, पीछे और पार्श्व से हटाने मे कलाकार की प्रतिभा श्रेष्ठता की चरम सीमा पर जा पहुंची है। ×××× पार्श्व के शिलाखण्डों मे चीटियों आदि की बांबियां अकित की गयी हैं और कुछेक में से कुक्कुट-सर्पों अथवा काल्पनिक सर्पों को निकलते हुए अंकित किया गया है। इसी प्रकार दोनों ही ओर निकलती हुई माधवी लता को पांव और जांघो से लिपटती और कंधो तक चढ़ती हुई अंकित किया गया है, जिनका अंत पुष्पों या बेरियों के गुच्छों के रूप में होता है। ××× यह अंकन किसी भी युग के सर्वोत्कृष्ट अंकनों में से एक है। नुकीली ओर सवेदनशील नाक, अर्धनिमीलित ध्यानमग्न नेत्र, सौम्यस्मित-ओष्ठ, किंचित् बाहर को निकली हुई ठोड़ी, सुपुष्ट गाल, पिण्डयुक्त कान, मस्तक तक छाये हुए घुंघराले केश आदि इन सभी से आकर्षक, वरन् देवात्मक मुखमण्डल का निर्माण हुआ है। आठ मीटर चौडे बलिष्ठ कंधे, चढ़ाव-उतार रहित कुहनी और घुटनों के जोड़, संकीर्ण नितम्ब जिनकी चौड़ाई सामने से तीन मीटर है और जो वेडौल और अत्यधिक गोल हैं, ऐसे प्रतीत होते हैं मानो मूर्ति को सतुलन प्रदान कर रह हों, भीतर की ओर उरेखित नालीदार रीढ़, सुदृढ़ और अडिग चरण, सभी उचित अनुपात में, मूर्ति के अप्रतिम सौंदर्य और जीवन्तता को बढ़ाते हैं, साथ ही वे जैन मूर्तिकला की उन प्रचलित परम्पराओं की ओर भी संकेत करते है जिनका दैहिक प्रस्तुति से कोई सम्बन्ध न था– कदाचित् तीर्थकर या साधु के अलौकिक व्यक्तित्व के कारण, जिनके लिए मात्र भौतिक जगत् का कोई अस्तित्व नहीं। केवली के द्वारा त्याग की परिपूर्णता-सूचक प्रतिमा की निरावरणता, दृढ़ निश्चयात्मकता एवं आत्मनियन्त्रण की परिचायक खड्गासनमुद्रा और ध्यानमग्न होते हुए भी मुखमण्डल पर क्षलकती स्मिति के अकन मे मूर्तिकार की महत् परिकल्पना और उसके कला-कौशल के दर्शन होते हैं। सिर और मुखाकृति के अतिरिक्त हाथों, उंगलियों, नखों, पैरो तथा एड़ियो का अकन इस कठोर दुर्गम चट्टान पर जिस दक्षता के साथ किया गया है, वह आश्चर्य की वस्तु है। सम्पूर्ण प्रतिमा को वास्तव में

पहाड़ी की ऊंचाई और उसके आकार-प्रकार ने संतुलित किया है तथा परम्परागत मान्यता के अनुसार जिस पहाड़ी चोटी पर बाहुबली ने तपश्चरण किया था वह पीछे की ओर अवस्थित है और आज भी इस विशाल प्रतिमा को पैरों और पार्श्वों के निकट आधार प्रदान किये हुए है, अन्यथा यह प्रतिमा और भी ऊंची होती। जैसा कि फर्ग्युसन ने कहा है: 'इससे महान और प्रभावशाली रचना मिश्र से बाहर कहीं भी अस्तित्व मे नहीं है और वहां भी कोई ज्ञात प्रतिमा इसकी ऊँचाई को पार नहीं कर सकी है।' ××× इसके अतिरिक्त है समूचे शरीर पर दर्पण की भांति चमकती पालिश जिससे भूरे-स्वेत ग्रेनाइट प्रस्तर के दाने भव्य हो उठे हैं; और भव्य हो उठी है इनमें निहित सहस्र वर्ष से भी अधिक समय से विस्मृत अथवा नष्टप्राय यह कला जिसे सम्राट् अशोक और उसके प्रपौत्र दशरथ के शिल्पियों ने उत्तर भारत में गया के निकट बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियों की आजीविक गुफाओं के सुविस्तृत अंतः भागों की पालिश के लिए अपनाया था। ××× मूर्ति के शरीरांगों के अनुपात के चयन में मूर्तिकार पहाड़ी-चोटी पर निरावृत्त मूर्ति की असाधारण स्थिति से भली-भांति परिचित था। यह स्थिति उस अण्डाकार पहाड़ी की थी जो मीलों विस्तृत प्राकृतिक दृश्यावली से घिरी थी। मूर्ति वास्तविक अर्थ में दिगम्बर होनी थी, अर्थात् खुला आकाश ही उसका वितान और वस्त्राभरण होने थे। मूर्तिकार की इस निस्सीम व्योम-वितान के नीचे अवस्थित कलाकृति को स्पष्ट रूप से इस पृष्ठभूमि के अंतर्गत देखना होगा और वह भी दूरवर्ती किसी ऐसे कोण से जहॉं से समग्र आकृति दर्शक की दृष्टि-सीमा में समाहित हो सके। ऐसे कोण से देखने पर ही शरीरांगों के उचित अनुपात और कलाकृति की उत्कृष्टता का अनुभव हो सकता है।" (पृष्ठ 225-227)

गोम्मटेश्वर द्वार के बायीं ओर एक पाषाण पर अंकित शिलालेख 85 (234) में कन्नड कवि बोप्पण 'सुजनोत्तम' ने भगवान् गोम्मटेश्वर के अलौकिक विग्रह के निर्माण, रचना-कौशल, जनश्रुतियों आदि का हृदयग्राही विवेचन किया है। बत्तीस पद्यों में प्रस्तुत की गई यह काव्यात्मक प्रशस्ति

वास्तव में कविराज वोप्पण के मुख में प्राकृतिक रूप से स्थित बत्तीस दांतों की सम्मिलित पूजा है। भगवान् गोम्मटेश की कलात्मक प्रतिमा की प्रशंसा में कवि का कला प्रेमी मन इस प्रकार से अभिव्यक्त हुआ है–

अतितुंगाकृतिया दोडागददरोल्सौन्दर्य्यमौन्नत्यमु
नुतसौन्दर्य्यमुमागे मत्ततिशयंतानागदौन्नत्यमुं।
नुतसौन्दर्य्यमुमूर्ज्जितातिशयमुं तन्नल्लि निन्दिर्द्दुवें
क्षितिसम्पूज्यमो गोम्मटेश्वर जिनश्रीरूपमात्मोपमं।

× × × × × ×

मरेदुं पारदु मेले पक्षिनिवहं कक्षद्वयोद्देशदोल्
मिरुगुत्तुं पोरपोण्मुगुं सुरभिकाश्मीरारुणच्छायमी-
तेरदाश्चर्य्यमनी त्रिलोकद जनं तानेय्दे कण्डिर्द्दुदा-
न्नैरिवन्नेंट्टने गोम्मटेश्वरजिनश्री मूर्त्तियं कीर्त्तिसल्।।

अर्थात् 'जब मूर्ति बहुत बड़ी होती है तब उसमें सौन्दर्य प्रायः नहीं आता। यदि बड़ी भी हुई और सौन्दर्य भी हुआ तो उसमें दैवी प्रभाव का अभाव हो सकता है। पर यहाँ इन तीनों के मिश्रण से गोम्मटेश्वर की छटा अपूर्व हो गर्व है। कवि ने एक दैवी घटना का उल्लेख किया है कि एक समय सारे दिन भगवान् की मूर्ति पर आकाश से 'नमेरु' पुष्पों की वर्षा हुई जिसे सभी ने देखा। कभी कोई पक्षी मूर्ति के ऊपर होकर नहीं उड़ता। भगवान् की भुजाओं के अधोभाग से नित्य सुगन्ध और केशर के समान रक्त ज्योति की आभा निकलती रहती है।

सहस्राधिक वर्ष से भगवान् बाहुबली की अनुपम प्रतिमा जन-जन के लिए वन्दनीय रही है। दिग्विजयी सम्राटों, कुशल मन्त्रियों, शूरवीर सेनापतियों, मुसलमान राजाओं, अंग्रेज गवर्नर जनरल, देश-विदेश के कलाविदों एवं जनसाधारण ने इस मूर्ति में निहित सौन्दर्य की मुक्त कंठ से सराहना की है। कायोत्सर्ग मुद्रा में यह महान् मूर्ति जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति का सन्देश दे रही है। सुप्रसिद्ध कला-प्रेमी एवं चिन्तक श्री

हेनरिक जिम्मर ने भगवान् गोम्मटेश की कलात्मक एवं आध्यात्मिक सम्पदा का निरूपण करते हुए लिखा है–

'आकृति एवं अंग-प्रत्यंग की संरचना की दृष्टि से यद्यपि यह प्रतिमा मानवीय है, तथापि अधर लटकती हिमशिला की भाँति अमानवीय, मानवोत्तर है और इस प्रकार जन्म-मरण रूप संसार से, दैहिक चिन्ताओ से, वैयक्तिक नियति, इच्छाओं, पीड़ाओं एवं घटनाओं से सफलतया असंपृक्त तथा पूर्णतया अन्तर्मुखी चेतना की निर्मल अभिव्यक्ति है। ... किसी अभौतिक अलौकिक पदार्थ से निर्मित ज्योतिस्तंभ की नाईं वह सर्वथा स्थिर, अचल और चरणों में नमित एवं सोत्साह पूजनोत्सव में लीन भक्त-समूह के प्रति सर्वथा निरपेक्ष पूर्णतया उदासीन खड्गासीन है।' (महाभिषेक स्मरणिका, पृ. 185)

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की गौरवशाली परम्परा में राष्ट्रीय नेताओ एवं उदार धर्माचार्यों की प्रेरणाा से भारतीय जन-मानस में प्राचीन भारत के गौरव के प्रति विशेष आकर्षण का भाव बन गया। स्वतन्त्र भारत में प्राचीन भारतीय विद्याओं के उन्नयन एवं संरक्षण के लिए विशेष प्रयास किए गए हैं। भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री श्री जवाहर लाल नेहरू का भारतीय विद्याओं एवं इतिहास से जन्मजात रागात्मक सम्बन्ध रहा है। महान् कलाप्रेमी श्री नेहरू ने 7 सितम्बर 1651 को अपनी एकमात्र लाडली सुपुत्री इन्दिरा गांधी के साथ भगवान् गोम्मटेश की प्रतिमा के दर्शन किए थे। भगवान् गोम्मटेश के लोकोत्तर छवि के दर्शन से वह भाव-विभोर हो गए और उन गौरवशाली क्षणों में उन्हें अपने तन-मन की सुध नहीं रही। आत्मविस्मृति की इस अद्भुत घटना का उल्लेख करते हुए उन्होंने मठ की पुस्तिका में लिखा है– I came, I saw and left enchanted ! (मैं यहां आया, मैंने दर्शन किए और विस्मय-विमुग्ध रह गया !)

वास्तव में भारतीय कलाकारों ने इस अद्वितीय प्रतिमा में इस देश के महान् आध्यात्मिक मूल्यों का कुशलता से समावेश कर दिया है। इसीलिए

इस प्रतिमा की शरण में आए हुए देश-विदेश के पर्यटक एवं तीर्थयात्री अपनी-अपनी भाषा एवं धर्म को विस्मरण कर विश्व-बन्धुत्व के उपासक बन जाते हैं। भगवान् गोम्मटेश की इस अलौकिक प्रतिमा ने विगत दस शताब्दियों से भारतीय समाज विशेषतः कर्नाटक राज्य की संस्कृति को प्राणवान् बनाने में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। भगवान् बाहुबली के इस अपूर्व जिन बिम्ब के कारण ही श्रवणबेलगोल राष्ट्रीय तीर्थ बन गया है। इस महान् कलाकृति के अवदान से प्रेरित होकर श्री न. स. रामचन्द्रैया ने विनीत भाव से लिखा है–

"बाहुबली की विशाल हृदयता को ही इस बात का श्रेय है कि सभी देशों और अंचलों से, उत्तरोत्तर बढ़ती हुई संख्या में, यहां आने वाले तीर्थ-यात्री भाषा तथा धर्म के भेदभाव को भूल जाते हैं। न केवल जैनों ने, बल्कि शैवों और वैष्णवों ने भी, यहां मन्दिर बनवाये हैं और इस जैन तीर्थ-स्नान को अनेक प्रकार से अलंकृत किया है। गोम्मट ही इस आध्यात्मिक साम्राज्य के चक्रवर्ती सम्राट् है। साहित्य एवं कला के साथ यहां धर्म का जो सम्मिश्रण हुआ है उसके पीछे इसी महामानव की प्रेरणा थी। कर्नाटक की संस्कृति में जो कुछ भी महान् है उस सबका वह प्रतीक बन गया है।" कालिदास कह गये हैं कि महान् लोगों की आकांक्षाएं भी महान् ही होती हैं–'उत्सर्पिणी खलु महतां प्रार्थना।' बाहुबली मानव-उत्कृष्टता के उच्चतम शिखर पर पहुंचे हुए थे। मानव इतिहास में इससे अधिक प्रेरणादायक उदाहरण और कोई नहीं मिल सकता। वोप्पण के वृत्त की एक पंक्ति यहां उद्धृत करने योग्य है। 'एमक्षिति सम्पूज्यमो गोम्मटेश्वर जिनश्रीरूप आत्मोपमम् !' इससे हमें वाल्मीकि की सुविदित उपमा का स्मरण हो आता है–'गगनं गगनाकारं सागरं सागरोपमम्।' गोम्मट की भव्य तथा विशाल उत्कृष्टता अद्वितीय है। (मैसूर, पृ. 146)

भगवान् गोम्मटेश के इसी भव्य एवं उत्कृष्ट रूप के प्रति श्रद्धा अर्पित करने की भावना से देश की लोकप्रिय प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने भगवान् बाहुबली सहस्राब्दी प्रतिष्ठापना समारोह के अवसर पर

हेलीकाप्टर से गगन-परिक्रमा करते हुए भगवान् गोम्मटेश का सद्यजात सुगन्धित कुसुमों एव मत्र-पूत रजत-पुष्पो से अभिषेक किया था। इसी अवसर पर आयोजित एक विशाल सभा में भगवान् गोम्मटेश के चरणों मे श्रद्धा अभिव्यक्त करते हुए उन्होंने इस महान् कला-निधि को शक्ति और सौन्दर्य का, बल का प्रतीक बतलाया था। महामस्तकाभिषेक के आयोजन की संस्तुति करते हुए उन्होने इस अवसर को भारत की प्राचीन परम्परा का सुन्दर उदाहरण कहा था। भगवान् गोम्मटेश की विशेष वन्दना के निमित्त वह अपने साथ आस्था का अर्घ्य–चन्दन की माल, चांदी जड़ा श्रीफल और पूजन सामग्री ले गई थीं। उपर्युक्त सामग्री को आदरपूर्वक श्रवणबेलगोल के भट्टारक स्वामी को भेंट करते हुए उन्होंने कहा था–"इसे देश की ओर से और मेरी ओर से, अभिषेक के समय बाहुबली के चरणों में चढ़ा दीजिए।"

–1617 दरीबाकला, दिल्ली-11006

विशेष प्रस्तुत निबन्ध मे चर्चित शिलालेख जैन शिलालेख संग्रह (भाग एक) मे उद्धृत है।

सारा राष्ट्र ही जैन है

घटना फरवरी 1981 की है। भारत की लोकप्रिय प्रधानमत्री बाहुबली भगवान् श्रवणबेलगोला के महामस्तकाभिषेक समारोह मे अपने श्रद्धा सुमन अर्पित की राजधानी लोट आई। 26 फरवरी 1981 को ससद मे व्यंगात्मक ढग से कुछ सासदो ने प्रश्न उठाया कि "क्या आप जैन हो गई है?" जो इतनी दूर जेन प्रतिभा पर श्रद्धासुमन अर्पित करने गई। श्रीमती गाधी ने उत्तर दिया "मै महान भारतीय विचारो की एक प्रमुख धारा के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करने वहा गई थी, जिसका भारतीय इतिहास वे सस्कृति पर गहरा प्रभाव है और स्वतंत्रता संग्राम मे उन सिद्धांतो को अपनाया गया था। राष्ट्रपिता गाधी जी ने जैनियों के मूल सिद्धात अपरिग्रहक अहिसा के बल पर ही आज़ादी का मार्ग प्रशस्त किया था। **मैं ही क्यों समस्त राष्ट्र ही जैन है**, क्योकि हमारा राष्ट्र अहिंसावादी है ओर जैन धर्म का मूल सिद्धात अहिंसा है। हम जैन धर्म के आदर्श को नहीं छोडेंगें"

इसके पश्चात संसद में एक दम शान्ति हो गई।

जैन संस्कृति एवं साहित्य के विकास में दक्षिण भारत का योगदान

–रमा दान्त जैन

गोदावरी नदी के दक्षिण में अवस्थित आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, कर्णाटक, केरल तथा महाराष्ट्र का वह भूभाग जो कभी गंगों, चालुक्यों और राष्ट्रकूटों के आधिपत्य में रहा, सामान्यतया दक्षिण भारत माना जाता है। यहां की मुख्य भाषाएं तेलुगु, तमिल, कन्नड़ और मलयालम हैं।

यद्यपि वर्तमान काल के चौबीसों तीर्थंकर उत्तर भारत में ही हुए, इतिहास काल के प्रारम्भ से ही दक्षिण भारत जैन धर्म के अनुयायियों से युक्त रहा और कई शताब्दियों तक जैन धर्म का एक सुदृढ़ गढ़ बना रहा। जैन संस्कृति और साहित्य के संवर्द्धन में दक्षिण भारत का विशिष्ट योगदान रहा है। वर्ष 2001 की जनगणनानुसार दक्षिण के चार राज्यों में 5,43,344 जैनधर्मानुयायी बसते हैं–सबसे अधिक 4,12,659 कर्णाटक में हैं।

दक्षिण भारत में जैन धर्म का प्रवेश

हरिषेण के **वृहत्कथाकोश,** रत्ननन्दी के **भद्रबाहुचरित,** चिदानन्द कवि के **मुनिवंशाभ्युदय** और पं. देवचन्द्र की **राजावलिकथे** में निबद्ध जन अनुश्रुति के अनुसार उत्तर भारत में 12 वर्षीय भीषण दुर्भिक्ष पड़ने की आशंका से अन्तिम श्रुतकेवलि भद्रबाहु ने जैन मुनियों के विशाल संघ के साथ दक्षिण की ओर विहार किया था। भद्रबाहु श्रवणबेलगोल में कटवप्र पहाड़ी पर रुक गये और अपने शिष्य विशाखाचार्य को अन्य मुनियों के साथ पाण्ड्य और चोल राज्यों में जाने का आदेश दिया। उनकी समाधि वीर निर्वाण संवत् 162 (ई.पू. 365) में हुई थी। **किन्तु यह जैन धर्म और उसके अनुयायियों के दक्षिण भारत में प्रवेश का प्रथम चरण नहीं रहा होगा, अपितु उसके पूर्व ही कर्णाटक और तमिलनाडु के पाण्ड्य**

और चोल राज्यों में उनका प्रसार हो चुका होगा तभी विशाल मुनि संघ को शान्तिपूर्ण चर्या हेतु आचार्य वहां ले गये।

जैन मुनियों का दक्षिण भारतवासियों पर प्रभाव

जैन-मुनियों की सरल-सादी जीवनचर्या, विनम्र स्वभाव, निष्कपट व्यवहार और नैतिक शिक्षाओं ने दक्षिण की सभ्य विद्याधर जाति को मोह लिया। साधुओं ने भी घनिष्टता बढ़ाने के लिये स्थानीय बोलियों और भाषाओं को सीखा और उनमें साहित्य सृजन किया। दक्षिण भारत में जैन धर्म को जनसम्मान और राज्याश्रय दोनों ही प्राप्त रहे और ईस्वी सन् की प्रथम कई शताब्दियों तक जैन धर्मानुयायी दक्षिण भारतीय समाज में अग्रणी पंक्ति में बने रहे। तदनन्तर शैव, वैष्णव और वीर-शैव सम्प्रदायों के कट्टर विद्वेष और राज्याश्रय समाप्त हो जाने के कारण उनकी स्थिति में ह्रास हुआ। तदपि दक्षिण भारतीय समाज पर जैन धर्म और उसके अनुयायियों का प्रभाव अभी बना हुआ है। आज भी दक्षिण में वर्णमाला सीखने के पूर्व विद्यार्थियों को 'ओनामासीधं (ओम् नमः सिद्धेभ्यः) सिखाया जाता है जो राष्ट्रकूट काल में जैन गुरुओं द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में डाली गई अपनी गहरी छाप का परिणाम है। तमिल समाज के उच्च वर्गो में जैन संस्कार अभी भी विद्यमान हैं। शैव धर्म के पुनरुत्थान और राजनीतिक कारणों से भारी संख्या में जैनों का धर्मान्तरण हुआ, किन्तु धर्म परिवर्तित लोगों ने अपने जैन रीति-रिवाजों को अपनाये रखा। उनके आचार वैसे ही बने रहे। तमिल शब्द 'शैवम' विशुद्ध शाकाहारी के लिये प्रयुक्त होता है और वहां के ब्राह्मण शुद्ध शाकाहारी होते हैं जो स्पष्टतया जैन धर्म का प्रभाव है।

प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के साहित्य भण्डार की अभिवृद्धि में दक्षिणात्य जैनाचार्यों का योगदान

प्रथम शती ईस्वी से ही दक्षिण भारत में अनेक प्रकाण्ड विद्वान् और

प्रभावक जैन आचार्य हुए जिन्होंने प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओं में अध्यात्म, धर्म, दर्शन, न्याय, श्रमणाचार, श्रावकाचार, व्याकरण, छन्द, वैद्यक, पुराण ग्रन्थ और टीका ग्रन्थ आदि की रचना करके जैन भारती के भण्डार को धार्मिक एवं लौकिक साहित्य से भरा।

ईस्वी सन् की प्रथम सहस्राब्दि में आचार्य कुन्दकुन्द, गुणधर, उमास्वामि, स्वामी समन्तभद्र, शिवकोटि, कवि परमेश्वर, सर्वनन्दि, पूज्यपाद, देवनन्दि, वज्रनन्दि, पात्रकेसरि, श्रीवर्द्धदेव, भट्ट अकलंक देव, जटासिंहनन्दि, स्वामी वीरसेन, महाकवि स्वयम्भू, विद्यानन्दि, जिनसेन स्वामी, उग्रादित्याचार्य, महावीराचार्य, शाकटायन पल्यकीर्ति, राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथम, गुणभद्र, सोमदेव सूरि, महाकवि पुष्पदन्त, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, वीरनन्दि, वादिराज सूरि, वादीभसिंह सूरि, यतिमल्लिषेण तथा अमृतचन्द्र सूरि प्रभृति विद्वान् उल्लेखनीय हैं।

जैनधर्मानुयायियों द्वारा दक्षिण भारतीय भाषाओं के साहित्य में योगदान

दक्षिण भारतीय भाषाओं में **तमिल** भाषा सबसे प्राचीन है। इसकी अपनी वर्णमाला, अपनी लिपि, स्वतन्त्र शब्द भण्डार, व्याकरण, उक्ति वैचित्र्य और अभिव्यक्ति की विद्या तथा धार्मिक व लौकिक विषयों पर विविध विपुल साहित्य है। ई. पू. द्वितीय-प्रथम शती से तमिल में लिपिबद्ध शिलालेख मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। तमिल साहित्य की अभिवृद्धि तमिलनाडु में जैन मुनि संघों के प्रवेश के साथ मानी जाती है। प्राचीनतम उपलब्ध कृति **तोलकाप्पियम्** पद्य में निबद्ध व्याकरण ग्रन्थ है। इसके कर्ता प्रतिमा योगी तोलकाप्पियर हैं। इसके 'मरबियल' विभाग में जीवों का वर्गीकरण जैन सिद्धान्त के अनुसार है। गुणवीर पण्डित ने भी **नेमिनाथम्** नामक एक अन्य व्याकरण रचा।

तमिल के 18 नीति ग्रन्थों में **तिरूक्कुरल, नालडियार** और **पलमोलि**

का स्थान सर्वोपरि है; ये जैन कृतियां मानी जाती हैं। कणिमेदैयार की **तिणैमालै** और **एलादि,** विलम्बिनाथर की **नान्माणिक्कडिगै** और माक्कारियाशन की **श्रीपंचमूलम्** भी 18 नीति काव्यों में समाहित जैन कृतियां हैं। तमिल के प्रसिद्ध पंच महाकाव्यों में से तीन – **शिलप्पदिकारम्, वलयापति** और **जीवक चिन्तामणि** तथा पांचों उप काव्य – **नीलकेशी, चूड़ामणि, यशोधर काव्यम्, उदयणन कदै** और **नागकुमार काव्यम्** भी जैन कृतियां हैं।

उपर्युक्त के अतिरिक्त जैन रचनाकारों ने स्तोत्र, उक्ति संग्रह, छन्द शास्त्र, गणित, ज्योतिष आदि पर भी गम्भीर रचनाएं एवं टीकायें लिखकर तमिल साहित्य की अभिवृद्धि की।

द्वितीय शती ईस्वी से प्रचलन प्राप्त **कन्नड़** भाषा का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथम कृत **कविराजमार्ग** है। तदनन्तर दसवीं शती ईस्वी से सत्रहवीं शती ईस्वी तक कन्नड़ भाषा में जैनधर्मानुयायियों द्वारा विविध विषयक विपुल साहित्य की रचना की गई। दसवीं शती ईस्वी में किन्हीं कोट्याचार्य ने गद्य में **वड्डाराधने** की और महाकवि आदि–पम्प ने **आदिपुराण** की रचना की थी। सत्रहवीं शती ईस्वी तक कन्नड़ में जैन कवियों द्वारा 19 पुराण रचे गये। इनके अतिरिक्त **लीलावती, हरिवंशाभ्युदय,** और **जीव संबोधने** नामक काव्य; **मालतीमाधव** नामक नाटक; **काव्यालोकन** नामक अलंकार ग्रन्थ; **छन्दोम्बुधि** नामक छन्द शास्त्र; **भाषाभूषण** और **शब्द स्मृति** नामक व्याकरण ग्रन्थ; तथा **जातकतिलक** एवं **नरपिंगलि** नामक ज्योतिष ग्रन्थों की रचना हुई। राजा दित्य ने गणित पर 6 ग्रन्थ रचे। **गोवैद्य, कल्याणकारक** और **बालगृहचिकित्सा** नामक वैद्यक ग्रन्थों का तथा जैन धर्म एवं दर्शन विषयक **समय परीक्षे, धर्मामृत, आचारसार, प्राभृतत्रय** और **तत्वार्थ परमात्म प्रकाशिका** का प्रणयन हुआ। चामुण्डराय ने नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के **गोम्मटसार** पर **वीर मार्तण्डी** नाम्नी कन्नड़ टीका रची। **षटपदि ग्रन्थ, सांगत्य ग्रन्थ, शतक ग्रन्थ**, और **सूपशास्त्र** सदृश लोकोपकारी ग्रन्थों का भी प्रणयन हुआ।

भरतेश वैभव और **शतकत्रयी** के रचयिता रत्नाकरवर्णी मध्यकाल के उल्लेखनीय कन्नड़ कवि हैं।

यूं तो **तेलुगु** भाषा भी 2000 वर्ष प्राचीन है, आरम्भ में संस्कृत और प्राकृत को राज्याश्रय प्राप्त रहने से तेलुगु का व्यवहार आम जनता में घरों तक सीमित रहा। सातवाहन नरेशों ने शिलालेखों और दानपत्रों में तेलुगु का प्रयोग प्रारम्भ किया। ग्यारहवीं शती ई. में हुए नन्नय भट्ट तेलुगु के ज्ञात आदि-कवि पंडित माने जाते हैं उसके पूर्व का साहित्य धार्मिक विद्वेष की अग्नि में स्वाहा हो गया। तदपि उस अज्ञात युग में भी वांचियार नामक जैन लेखक द्वारा तेलुगु में छन्द शास्त्र लिखे जाने का श्रीपति पण्डित का और सन् 941 ई. में हुए पद्म कवि द्वारा जिनेन्द्र पुराण रचे जाने का उल्लेख मिलता है। जैन कवि भीमना के **राघवपाण्डवीय काव्य** को ब्राह्मण नन्नय भट्ट ने ईर्ष्यावश नष्ट करा दिया था। 1100 ई. में हुए जैन कवि मल्लना अपरनाम पावुलूरि ने **पावुलूरि गणित** रचा। कवि अघवर्ण ने तेलुगु में एक छन्दशास्त्र और दो व्याकरण ग्रन्थों की रचना की थी। आधुनिक काल में वेदम वेंकट शास्त्री ने **बोब्बिलियुद्धमु** नामक ऐतिहासिक नाटक और **बोब्बिलिराजुकथा** की रचना की और डॉ. चिलुकूरि नारायणराव ने जैन धर्म पर तेलुगु में पुस्तक लिखी।

मलयालम साहित्य के इतिहास में जैन कृतियों और कृतिकारों का उल्लेख सम्प्रति देखने में नहीं आया।

उपसंहार

इस प्रकार दक्षिण भारत को अनेक प्रकाण्ड विद्वान्, वाग्मी और प्रभावक जैन आचार्यो को जन्म देने का श्रेय है जिन्होंने जैन धर्म और संस्कृति के प्रचार–प्रसार में अभूतपूर्व योगदान दिया। 'पूज्यपाद' जैसे सम्मानसूचक विरुदों से विभूषित अकलंकदेव के **प्रमाण संग्रह** का मंगल

श्लोक कई शताब्दियों तक दक्षिण भारत के शिलालेखों तथा जैन एवं जैनेतर कृतियों में अपनाया गया।

अहिंसा को अपनाने वाले जैनधर्मानुयायी शत्रु राज्यों के प्रति शस्त्र उठाने में अक्षम रहे, जन सामान्य की इस आम धारणा का निरसन दक्षिण भारत के इतिहास से बखूबी होता है। वहां अनेक जैनधर्मानुयायियों ने न केवल राजसत्ताएं स्थापित की अपितु नैष्ठिक जैन रहते हुए भी अद्भुत शौर्य से रणभूमि में विपक्षियों के दांत खट्टे किये। दक्षिण में सर्वाधिक जीवि गंगवंशीय राज्य के संस्थापक ददि्दग और माधव कोंगुणिवर्म जैनधर्मानुयायी थे। दसवीं शती ईस्वी में हुए गंग नरेशों के महामन्त्री एवं प्रधान सेनापति चामुण्डराय, जो 'सम्यकत्व रत्नाकर' जैसी उपाधियों से विभूषित थे, को रणभूमि में अनेक बार अपना हस्तकौशल दिखाने हेतु 'वैरिकुलकालदण्ड' जैसे विरुदों से सम्मानित किया गया था।

मध्यकाल में मुसलमानी राज्य के कारण जब उत्तर भारत में दिगम्बर जैन साधुओं की परंपरा विच्छिन्न हो गई थी दक्षिण में जैन मुनि अपनी चर्या का पूर्ववत् पालन करते रहे थे। 20 वीं शती ईस्वी के प्रथम पाद में ब्रिटिश शासन की कृपा से दिगम्बर जैन मुनियों का उत्तर भारत में भी पुनः पदार्पण हुआ। मूडबद्री, हुम्मच और श्रवणबेलगोल के जैन मठ और वहां के भट्टारक सम्पूर्ण भारत में श्रद्धास्पद बने रहे।

श्रवणबेलगोल में विन्ध्यगिरि के शिखर पर प्रतिष्ठापित गोम्मटेश्वर बाहुबलि का 57 फुट उत्तुंग प्रतिबिम्ब मूर्तिविज्ञान और रूपशिल्प की अनुपम कलाकृति है, विश्व के आश्चर्यो में परिगणित है। इस मूर्ति के अनुकरण पर न केवल दक्षिण में ही अपितु उत्तर भारत में भी कई स्थानो पर बाहुबली की मूर्ति प्रतिष्ठापित की गई। इस विशालकाय मूर्ति का मस्तकाभिषेक सामान्यतया 12 वर्ष के अन्तराल पर बड़ी धूमधाम से होता है जिसमें देश-विदेश से लाखों श्रद्धालु सम्मिलित होते हैं।

जैन बद्री (श्रवणबेलगोला)

भगवान् बाहुबली की विशाल मूर्ति विन्ध्यगिरि पर्वत पर विराजमान है। पहाड़ पर 600 सीढ़ियों द्वारा चढ़कर पहुँचते हैं। यह पर्वत जैनों का ही नही, अपितु अजैन तथा परदेसियों की दृष्टि में भी बहुत पवित्र है इसीलिये सभी यात्री नंगे पैर ही इस पर चढ़ते हैं। ये सीढ़ियाँ मुंबई के **प्रसिद्ध जौहरी दानवीर सेठ माणिकचंद हीराचंद,** जे.पी. ने सन् 1884 में बनवाई थीं। थोड़ी दूर जाने पर एक के बाद एक, पत्थर के दो तोरणद्वार मिलते हैं। कुछ ही दूर चढ़ने पर नीचे के मैदान में स्थित श्रवणबेलगोला गॉव तथा उसका पवित्र सरोवर और शस्य श्यामल क्षेत्रभूमि के मनमोहक दृश्य खुले रूप में दिखाई देते हैं। आगे चढ़ने पर एक मन्दिर मिलता है जिसको यहॉ के सेठ पद्मराजैया ने बनवाया था, इसे **"ब्रह्मदेव मंदिर"** कहते है। ब्रह्मदेव दक्षिण में क्षेत्रपाल माने जाते हैं। ब्रह्मदेव सिंदूर से रंगे हुए पाषाण मात्र हैं। यहाँ के लोग इसे **'जारुगुप्पे अप्प'** कहते हैं। इसे हिरीसाल निवासी रंगय्या ने सन् 1677 में बनवाया था। इसकी दूसरी मजिल पर 5 फुट ऊँची काले पत्थर की भगवान् पार्श्वनाथ की पद्मासन प्रतिमा विराजमान है। अब कुछ और चढ़ने पर, भगवान् बाहुबली के मंदिर के सबसे बाहरी प्रकोष्ट के द्वार पर पहुँच जाते हैं।

दक्षिण के जैन मंदिरों के विषय में यह बात ध्यान में रखना जरूरी है कि वे प्रथमतः द्राविड़ स्थापत्य के अनुरूप होते है। दूसरे, उत्तर प्रान्तों के जैन मंदिरों से उनका सबसे बड़ा अन्तर बनावट का है। दक्षिण के मंदिर बनावट में दो तरह के होते हैं:– एक बसदि जिनमें प्रायः खंभोवाली सुखनासी और नवरंग होते हैं और मूर्तियां सबसे भीतर के गर्भगृह में विराजमान रहती हैं। मूर्तियों के दोनों तरफ यक्ष-यक्षी का होना जरूरी बात है। इन मंदिरों में परिक्रमा नहीं होती, उत्तर के मंदिरों में बिना परिक्रमा

का मंदिर तो क्या, चैत्यालय भी नहीं मिलेगा। दक्षिण के दूसरी तरह के मंदिरों को 'बेट्ट' कहते हैं। ये बहुधा पर्वतों के खुले शिखरों पर होते हैं जिनमें किसी घेरे के अन्दर बाहुबली की खड़गासन मूर्ति होती है। ऐसे बेट्ट दक्षिण में तो बहुत से हैं परन्तु उत्तर में कोई नहीं है।

जैनबद्री में कुल 38 मंदिर हैं जिनमें से 8 विन्ध्यगिरि पर इसी परकोटे में और 16 चन्द्रगिरि पर तथा 14 श्रवणबेलगोला ग्राम में हैं। विन्ध्यगिरि के मंदिरों के चारों तरफ जो परकोटा है उसके कपाट नहीं हैं। प्रातः 6 बजे से शाम के 6 बजे तक सबके लिये खुला रहता है। भक्तिभाव प्रदर्शन करने में यहां के अजैन जैनों को भी मात करते हैं। भगवान् उन सबके हैं जो उन्हें श्रद्धा-भक्ति से भजता है।

इस घेरे में जो 8 मंदिर हैं उनका वर्णन इस प्रकार है :-

1. **चौबीस तीर्थङ्कर बसदि**–यह बहुत ही छोटा मंदिर है इस मंदिर के भीतर एक गर्भगृह, उसके बाद सुखनासी तथा द्वारमंडप है। इस मंदिर में किसी तीर्थकर की कोई खास मूर्ति नहीं है, बल्कि पत्थर की एक पटिया पर नीचे की ओर तीन मूर्तियां खड़ी हैं और उनके ऊपर 21 छोटी-छोटी मूर्तियां गोल प्रभामंडल में अंकित की गई हैं। सन् 1648 में चारुकीर्ति, पंडित धर्मचन्द्र आदि ने इसका निर्माण किया था।

2. **ओदेगल बसदि**– इस प्राकार में सबसे बड़ा मंदिर यही है। यह एक ऊँचे चबूतरे पर बना है और सीढ़ियां चढ़कर ऊपर जाते हैं। दीवारों को संभालने के लिये टेकें लगाने के कारण इसका यह नाम पड़ा है। इसके गर्भगृहों के तीनों द्वार क्रमशः पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण दिशा की तरफ हैं जिनमें आदिनाथ, शान्तिनाथ और नेमिनाथ की विशाल मूर्तियां स्थापित हैं। इस कारण इस मंदिर का नाम 'त्रिकूट बसदि' भी पड़ गया है। यह होयसल राज्यकाल का बना हुआ है।

3. **चेन्नण्ण बसदि**–इसमें चन्द्रप्रभु भगवान् की 2.1/2 फुट ऊँची प्रतिमा विराजमान है। मंदिर में एक गर्भगृह है, एक द्वारमंडप है और

भीतर ओसार है। इस मंदिर के आगे एक मानस्तंभ खड़ा है। इसे चेन्नण्ण ने सन् 1673 में बनवाया था।

4. **सिद्धर बसदि**–यह मंदिर है तो छोटा-सा ही, पर इसमें 3 फुट ऊँची सिद्ध भगवान् की मूर्ति विराजमान है। मूर्ति के दोनों ओर 6-6 फुट ऊँचे मूर्तियों से खचित स्तंभ हैं। दोनों स्तंभों पर अनेक मूर्तियां अंकित हैं।

5. **अखण्डबागिलु (अखंड दरवाजा)**–यह एक ही अखण्ड ग्रेनाइट की शिला को काटकर बनाया गया है। इसके ऊपरी भाग में गजब की नक्काशी की गई है। बीच में लक्ष्मी जी एक खिले कमल में विराजमान हैं जिन्हें दो हाथी स्नान करा रहे हैं, इसे भी चामुण्डराय ने ही बनवाया था। इसकी दाई ओर भगवान् बाहुबली जी तथा बाई ओर भरत जी का मंदिर है। इनका निर्माण भरतेश्वर दण्डनायक ने सन् 1130 में किया था।

6. **सिद्धरगुण्डु**–अखण्ड दरवाजे की दाई ओर एक बड़ी शिला है जिसे सिद्धरगुण्डु (सिद्धशिला) कहते हैं। इस शिला पर अनेक लेख हैं और ऊपरी भाग में कई जैनाचार्यो की नामसहित मूर्तियॉ अंकित हैं।

7. **गुल्लिकायिज्जी बागिलु**–अखण्ड दरवाजे के सिवाय यह दूसरा दरवाजा है। इसका यह नाम पड़ने का कारण यह है कि इसकी दाई ओर की शिला पर बैठी हुई एक स्त्री का चित्र खुदा है जो 1 फुट का है। लोगों ने उसे गुल्कायिज्जी समझ लिया है परन्तु शिलालेख नं. 418 से विदित होता है कि यह चित्र मल्लिसेटि की पुत्री का है, जिसने यहां समाधिमरण किया था।

8. **त्यागद ब्रह्मदेव स्तंभ**–इसका दूसरा नाम 'चागद कंब' है। इस पर चामुण्डराय ने अपना और मूर्ति बनानेवाले कारीगर का परिचय दिया था परन्तु दुर्भाग्य से हेगडे कन्न नाम के महाशय ने अपनी करतूत अमर करने के लिये उक्त लेखों को घिसवा डाला, जिससे इस मूर्ति के स्थापनकाल, कारीगर का नाम तथा चामुण्डराय के प्रशस्त जीवन संबंधी महत्वपूर्ण घटनाएं लुप्त हो गईं।

डॉ. फर्ग्युसन ने इस स्तंभ की बड़ी तारीफ़ की है। इसके नीचे के भाग में कई सचित्र शिलालेख हैं। चँवरधारियों से आवेष्टित गुरु-शिष्य की मूर्ति को लोग चामुण्डराय और नेमिचन्द्र 'सिद्धान्त चक्रवर्ती' की मूर्ति बताते है।

यह स्तंभ भी उसी चामुण्डराय ने बनवाया था जिसने भगवान् बाहुबली की यह प्रतिमा बनावाई थी। चामुण्डराय गंग वंश के राजा राचमल्ल (चतुर्थ) के कमान्डर-इन-चीफ और प्रधानमंत्री थे। वे गोम्मटसार आदि ग्रंथों के रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती के शिष्य थे। उनकी ही आज्ञानुसार उन्होंने इस मूर्ति का निर्माण कराकर उन्हीं के हाथों से इसकी प्रतिष्ठा कराई थी। यह घटना, इस स्तंभ पर उत्कीण की गई है।

आइये, अब भगवान् बाहुबली के दरबार को चलें। यह जो सामने छोटा-सा दरवाजा दिखाई दे रहा है यही उस दरबार के अदर जाने का रास्ता है। पर यह दरवाजा है कैसा? इसमें न कोई जोड़, न तोड़, न कहीं सीमेन्ट है और न कही चूना लगा है। एक बड़ी पर्वतशिला को कोर करके यह दरवाजा बनाया गया है।

इसकी दाहिनी ओर भगवान् बाहुबली का मंदिर है और बाई ओर भरत भगवान् का। भरत भगवान् का मंदिर यहां क्यों बनाया गया है? भगवान् बाहुबली के इस रूप में तपस्या करने में यह ही तो कारण हैं। यदि ये न होते, तो कौन जाने, भगवान् बाहुबली भी कलिकाल के हम पामर प्राणियों का उद्धार करने के लिये यहां खड़े होते या नहीं?

इस अखंडबागिलु की ऊपरी कमान को तो देखिये। कमल में स्थित लक्ष्मी जी को दो हाथी क्षीरोदधि के जल से स्नान करा रहे हैं। इस अखण्ड-बागिलु को भी चामुण्डराय ने ही बनवाया था।

आंगन पार करते ही यात्री भगवान् बाहुबली की प्रतिमावाले प्राकार के दरवाजे पर पहुंच जाता है। कड़ी धूप में चढ़ने वाला यात्री यहॉ की शीतल छाया में विश्राम पाकर आनन्द पाता है और बाद में आंगन के द्वार में घुसकर भगवान् बाहुबली के दरबार में हाजिर होता है। खुद आंगन का एक बड़ा दरवाजा है।

यह दरवाज़ा बहुत विशाल है। त्रिलोकीनाथ का यह दरबार है; दरबार का दरवाजा बड़ा होना ही चाहिये। इस दरवाजे के दाई ओर एक शिलालेख है, जिस पर भगवान् भरत बाहुबली की कथा सविस्तार लिखी है और चामुण्डराय द्वारा निर्माण की बात भी लिखी है जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्व की है।

अहो! दरवाजे के आगे यह बाई क्यों खड़ी है? यह बाई है कौन? खड़ी इसलिये है कि इसे यहां खड़े होने का हक है। यही वे जग प्रसिद्ध भक्तराज गुल्लिकायिज्जी हैं; और इनकी मूर्ति भी चामुण्डराय ने ही यहां स्थापित की है। इस स्तंभ के ऊपरी भाग में तो यक्ष ब्रह्मदेव बैठे हैं इसकी एक विशेषता है। यहाँ से देखने पर श्री बाहुबली का मस्तिष्क एवं चरण दोनों दिखते हैं।

भगवान् बाहुबली का सबसे पहला महामस्तकाभिषेक करने का बड़ा भारी गौरवान्वित पद चामुण्डराय को नहीं, बल्कि बुढ़िया गुल्लिकायिज्जी को मिला। चामुण्डराय ने इस करुण प्रसंग को भी पत्थर पर अंकित कराकर अपनी इस हार को ऐसे अलौकिक ढंग से अमर बनाया है, जिससे उनके हृदय की विशालता भी अमर हो गई। चलिये, अब अंदर चलें।

जिस सन्त के दर्शन के लिये आँखें वर्षो से तरस रही थीं; उस सन्त के साक्षात् दर्शन करके आत्मा, हृदय, और आँखों को ऐसे स्वर्गीय और अननुभूत सुख तथा तृप्ति का अनुभव होता है जिसे भाषा के शब्द व्यक्त नहीं कर सकते। आइये, पहले इस परकोटे और उसकी दीवारों को देखें।

अखण्डबागिलु द्वार से घुसने पर 65 सीढियाँ चढ़ने के बाद यात्री पर्वतशिखर के ऊपर अवस्थित एक बड़े आंगन में प्रविष्ट होता है। इस आंगन के अन्दर एक और आंगन है और इसी में गोम्मटेश्वर भगवान् की मूर्ति स्थापित है। इस परकोटे को भक्तराज गंगराज ने सन् 1166 में बनवाया था। इन्होंने और इनके वंशजों ने जैन बद्री और इसके आसपास के 80 मी. की परिधि के ग्रामों में सैंकड़ों ऐसे विशाल मंदिर बनवाये थे

जिनकी लागत उस जमाने में भी कम से कम पचास लाख रुपयों से कम न रही होगी। चामुण्डराय द्वारा निर्मित दो-तीन मंदिरों का ही पता चलता है परन्तु गंगराज और उनके वंशजों द्वारा निर्मित मंदिरों की संख्या सौ से कम नहीं।

इस परकोटे की दीवारें मानो लोहे की बनी हैं। लगभग 1000 वर्ष से अधिक इन्हें बने हो गये, पर क्या मजाल है कि जरा भी कहीं से मोच खा जायें? पत्थर की 2-2 फुट चौड़ी शिलाओं को काटकर उन्हें एक के ऊपर एक रखकर ये दीवारें खड़ी की गई हैं। इस परकोटे की बाहरी मुडगारियों पर यक्ष-यक्षियों से आवेष्टित बिम्ब हैं। सामने की सिद्धर बसदि की मुडगारी पर अष्ट दिग्पालों से आवेष्टित जिनबिम्ब हैं। इन्हीं दिग्पालों में 'मदन' नामक एक यक्ष है। यही रचना उदयपुर संस्थान-स्थित केशरियानाथजी के मंदिर पर भी दिखाई देती है।

बाहुबली भगवान् की मूर्ति इतनी सुन्दर और सजीव है कि जो कोई इसे देखता है वहीं इस पर फिदा हो जाता है।

इस मूर्ति की सुन्दरता के विषय में इतना ही कहा जा सकता है, जिस किसी भी स्थापत्य-कला-विज्ञ ने इसे देखा है वह इसकी कला से मोहित हुए बिना नहीं रहा। भारत सरकार के तत्कालीन पुरातत्व तथा स्थापत्य विभागों के डायरेक्टर-जनरल डॉ. फर्ग्युसन ने इस मूर्ति के विषय में लिखा है:-

"Nothing grandur or more imposing exists out of Egypt and there no known statue surpasses it in height, though it must be confessed they do excel in perfection of the Art they exhibit."

यह मूर्ति गोम्मटेश्वर भगवान् की है। दक्षिण भारत में ये इसी नाम से प्रसिद्ध है परंतु दिल्ली, आगरा, फिरोज़ाबाद, मेरठ आदि उत्तरी भारत के किसी जैनी से पूछो कि आप इन्हें किस नाम से जानते और पूजते हैं तो वे इनका नाम 'बाहुबली' ही बतायेंगे। अधिक सच बात तो यह है कि

उत्तर भारतीयों के लिये 'गोम्मटेश्वर' का नाम ही एक नई चीज है। इसका कारण यह है कि जैनों के प्रसिद्ध त्रेसठ शलाका पुरुषों में से किसी का भी नाम 'गोम्मटेश्वर' नहीं था। भगवान् जिनसेन ने भी अपने प्रसिद्ध 'आदिपुराण' में इनके गोम्मटेश्वर नाम का वर्णन नहीं किया।

मूर्ति के सम्मुख का मण्डप नौ देवताओं से सजा हुआ है। इनमें से आठ सहस्त्रीक दिग्पाल अपनी-अपनी सवारियों में आसीन बताये गये हैं। बीच की छत में इन्द्र महाराज भगवान् के स्नान के लिये हाथ में कलश लिये हुऐ खड़े बताये गये हैं। इन छतों की कारीगरी गजब की है। इन छतों को मंत्री बलदेव ने 12 वीं शताब्दी में बनवाया था। मूर्ति के सामने पत्थर की बाड़ लगी है जिसे सन् 1160 में भारतमैया ने बनवाया था।

इस मूर्ति के निर्माण-काल के विषय में भी मतभेद है। 'इन्सक्रिपशन्स ऑफ श्रवणबेलगोला' के लेखक प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता मि लुवीस राइस, C.I.E., M.R.A.S. सन् 973 को इसकी प्रतिष्ठा का वर्ष मानते हैं। श्री गोविन्द मंजय्येश्वर पै का मत है कि सन् 981 के मार्च की 13 वीं तारीख रविवार को इस मूर्ति की प्रतिष्ठा हुई थी। इस संबध में कई मतमतान्तर प्रचलित हैं। सबसे प्रसिद्ध मत यह है:-

कल्यब्दे षट् शताख्ये विनुतविभव संवत्सरे मासि चैत्रे
पंचम्यां शुक्लपक्षे दिनमणिदिवसे कुंभलग्ने सुयोगे।
सौभाग्ये मस्तनाम्नि प्रकटितभगणे सुप्रशस्तां चकार
श्रीमच्चामुण्डराजो बेल्गुलनगरे गोम्मटेशप्रतिष्ठाम्।।

अर्थात्-कलि संवत् 600 में, विभव संवत्सर के चैत्र महीने की सुदी 5 रविवार को कुंभ लग्न में चामुण्डराय ने बेलगोल ग्राम में शुभकारिणी गोम्मटेश भगवान् की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। इतना होने पर भी इस विषय में विद्वानों की भिन्न-भिन्न राय हैं। डॉ. आर. शामा शास्त्री के मतानुसार यह तिथि ता. 3 मार्च 1028 को पड़ती है। तो डॉ.ए. बेंकट सुब्बैया के मत से यह तिथि 21 अप्रैल 980 की है। श्री एस. श्रीकंठ शास्त्री के

मतानुसार यह तारीख 10 मार्च 907 की है। सच बात तो यह है अभी तक यह विषय अनिर्णीत ही है।

भगवान् बाहुबली क्यों पूज्य हुए इसका कारण स्पष्ट ही है। इस अवसर्पिणी काल में सबसे पहले कामदेव तो ये हैं ही, परन्तु मोक्षगामी जीवों में भी ये सबसे पहले हैं। भगवान् ऋषभदेव ने यद्यपि इनसे पहले दीक्षा ली थी, परन्तु उनसे भी पहले भगवान् बाहुबली ने मोक्ष प्राप्त किया, इसी कारण मोक्षमार्ग के प्रणेता के रूप में वे सर्वत्र पूज्य हुए।

यह मूर्ति बिलकुल दिगम्बर नग्नावस्था में है। चट्टान सीधी खड़ी है और उत्तरोनमुख है। शरीर का भारी बोझ सँभालने के लिये टांगों के आगे-पीछे की शिला को बमीठों के रूप में छोड़ दिया गया है। इसके सिवाय इस मूर्ति का कोई आधार नहीं है। इन दोनों ओर के बमीठों से माधवी लता पहले टांगों से और उसके बाद सुदीर्घ भुजाओं से लिपटती हुई ऊपर तक चली गई है।

ऐसी सुन्दर विशाल मूर्ति उस समय में बनाई गई जबकि वैज्ञानिक साधनों का यहां किसी को पता तक न था, इसलिये उन कारीगरों को कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा, उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। सभी अंग ऐसे तो नपे-तुले बने हैं कि कोई भी विशेषज्ञ इसमें कोई दोष नहीं निकाल सकता। बमीठों पर चरणों के दोनों ओर मराठी, प्राचीन कन्नड़ और तमिल लिपि में बड़े-बड़े शिलालेख हैं जिनमें लिखा है: **श्री चावुणराजे करवियले** (श्री चामुण्डराज ने बनवाई) और **श्री गंगराजे सुत्ताले करवियल** (गंगराज ने परकोटा बनवाया)। मराठी भाषा के इतिहास में ये दोनों वाक्य गद्य के सबसे प्राचीन नमूने माने गये हैं।

यह मूर्ति होयसल शिल्पकला की अन्य मूर्तियों के समान न तो आभूषणों से लदी है और न मिश्र या ग्रीक देवताओं की तरह ठसक के साथ बैठी ही है, फिर भी शोभा और शालीनता की दृष्टि से संसार की सभी मूर्तियों से बढ़कर है। खुद कारीगरों को भी कल्पना न थी कि जिस

पत्थर को वे तराश रहे हैं, उसमें से अन्त में जाकर ऐसी सर्वांगसुन्दर मूर्ति निकल आयेगी।

इस मूर्ति की ऊँचाई 57 फुट है। परन्तु पहले की सभी पुस्तकों में यह 70 फुट या 63 फुट की बताई है। कंधों की विशालता तो ग़ज़ब की है, मानो बाहुबली भगवान् के सारे शरीर का बल इन भुजाओं में ही इकट्ठा हो गया है।

सर्वमान्य मान्यता यही है कि इस मूर्ति के कर्ता चामुण्डराय ही हैं। ये नरकेशरी गंगवंशीय राजा राचमल्ल (चतुर्थ) के प्रधान सेनापति तथा प्रधान मंत्री थे। राचमल्ल ने सन् 974 से 984 तक गंगवाड़ी में राज्य किया था। निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह मूर्ति सन् 983 में निर्माण की गई होगी। इसके पास का प्रकोष्ट गंगराज ने सन् 1116 में बनवाया था।

यह विशाल मूर्ति किस प्रकार यहाँ स्थापित हुई; इस सम्बंध में शंका की कोई गुंजाइश नहीं है। यह मूर्ति ग्रेनाइट की एक ही शिला काटकर बनाई गई है इसलिये प्रत्यक्ष रूप से ही यह नितान्त असंभव है कि यह कहीं दूसरी जगह बनाकर फिर बाद में विन्ध्यगिरि जैसे चिकने और ढलवाँ पहाड़ पर लाकर सीधी खड़ी कर दी गई हो। पहाड़ पर की शिलाओं का अभ्यास करने से यह बात निश्चित रूप से मालूम हो जाती है कि इसी पहाड़ के शिखर पर पहले एक बृहदाकार शिलाखंड था और उसी को काटकर यह मूर्ति बनाई गई है।

अजंता, एलिफेंटा और कन्नरी आदि सभी मंदिर पहाड़ों की शिलाओं को कोर करके बनाये गये हैं। उनके मुकाबले में शिखर की शिला को काटकर मूर्ति निकालना तो अपेक्षाकृत आसान ही काम था।

भगवान् बाहुबली की यह मूर्ति इतनी सुन्दर और सजीव है कि यदि इसे जैन-मूर्तिकला का प्रतीक कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं। जैन-मूर्तिकला और उसका मूर्ति शिल्प कला-वैभव इतना महान और

प्राचीन है कि पाश्चात्य विद्वानों को मुक्तकण्ठ से यह स्वीकार करना पड़ा है कि भारत की संस्कृति और धर्मो में मूर्तिपूजा के प्रणेता जैन हैं।

यहां यह कहना असंगत न होगा कि जैन धर्म की मूर्तिपूजा संबंधी मौलिक भावना अन्य सभी धर्मो से बिलकुल जुदी है और बहुत अंशों में तो उनसे बिलकुल विपरीत ही है। जैनों की मूर्तिपूजा चरम त्याग, क्षमा, दया, आत्मसंयम, आत्मचिंतन आदि बातों पर अवलम्बित है जबकि दूसरे धर्मों के देव संसारी माया-मोह में फॅसे रहने के कारण सांसारिक वैभवों में लिप्त और अनुरक्त दिखाई पड़ते हैं। अन्य धर्मवालों के देव तरह-तरह के आभूषणों से सज्जित, विविध सांसारिक वासनाओं को प्रदीप्त करनेवाले हाव-भावों और लीलाओं में संलग्न दिखाई पड़ते हैं। बाहुबली की मूर्ति की स्थापना डंकणाचार्य द्वारा प्रतिपादित होयसल-मूर्तिकला के प्रतीक शारीरिक सौंदर्य को बताने के लिये या मिश्र देश के अधिकार, अहंकार, साम्राज्य आदि भावव्यंजक देवों की महिमा बताने के लिये या जातीय मद को व्यक्त करने वाली रोमन पूर्व-पुरुषों की महत्ता बताने के लिये नहीं हुई परंतु जैन धर्म द्वारा अनुमोदित ऊंचे स्वरूपाचरण की **'वपुषा प्ररूपयन्ती'** परिभाषा का दर्शन कराने के लिये की गई है।

मैंने ईसाइयों को यहां सजदा करते देखा है। पूछने पर उन्होंने बताया कि उनके धर्म में भी त्याग और आत्मसंयम की बड़ी तारीफ की गई है। और उन तारीफों को इस मूर्ति में ऐसी कुशलता और खूबी से उतारा गया है कि हमें तो यही लगता है कि यह मूर्ति सचमुच ही हमारे धर्म के तत्वों को प्रतिपादित कर रही है। भगवान् बाहुबली की मूर्ति विश्ववंद्य मूर्ति है और इसीलिये जैन बद्री का तीर्थ भी विश्वतीर्थ है।

सन् 1799 में चौथे मैसूर युद्ध में टीपू सुलतान को हराकर आर्थर वेलेस्ली (जो बाद में ग्रांड ड्यूक ऑफ वेलिंग्डन के नाम से मशहूर हुआ और जो सन् 1799 से 1805 तक भारत का गवर्नर-जनरल रहा था) भी इस आश्चर्यकारी मूर्ति के दर्शन करने के लिये यहाँ आया था और इसे

देखकर घड़ी भर तो दंग रह गया था। उसने भी इसकी कला और लोकोत्तर कारीगरी की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।

भगवान् बाहुबली के आंगन के चारों तरफ एक अन्तर्गृह (परकोटा) है। इसमें किसी जमाने में (सन् 1817-18 में तो जरूर था) बड़ा अन्धकार था, दिन में भी मूर्तियां नहीं दिखती थीं। परन्तु धन्यवाद दीजिये समस्त भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी-मुंबई को और उसके सद्गत मैनेजर श्री बाबूलाल जी जैन (ये सज्जन टूंडला के पास सखावतपुर गांव के निवासी पद्मावतीपुरवाल जाति के थे) को जिन्होंने इनमें जालियाँ लगवा कर इन्हें प्रकाशित कर दिया। बामियों के पीछे जो पत्थर की दीवार लगा दी गई है वह भी उक्त कमेटी ने 4000 रु. खर्च करके बनवाई है। कर्नाटक सरकार ने भगवान् के मन्दिर को ही नहीं, सारे पर्वत को ही बिजली की रोशनी से जगमगा दिया है। ऊपर छत पर हासन निवासी सेठ एस. पुटसामैया श्रॉफ ने सर्चलाइट लगवा दी है।

कर्नाटक माता महासती अत्तिमब्बे

भगवान् गोम्मटेश्वर की प्राण प्रतिष्ठा के समय विशाल मेला जो यहाँ लगा था उसमें देश देशान्तर के लोग आए थे उनमें एक थी कर्नाटक की देवी अत्तिमब्बे। वे तैलप सम्राट आहवमल्ल के प्रधान सेनापति सुभट मल्लप की पुत्री थीं। वे यौवनकाल मे ही विधवा हो गई थीं। एक वर्ष का बालक ही उनके जीवन का आधार था। अजितसेन महाराज के उपदेश से जैन धर्म के प्रचार प्रसार करने में उनकी रुचि हुई। वे अपने पति के द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति का सदुपयोग करते हुए प्रत्येक विवाह के अवसर पर नवदम्पत्ति को शांतिनाथ का एक स्वर्णविग्रह और एक शास्त्र उपहार के रूप में देती थीं और साथ ही कम से कम पॉच शास्त्र लिखवाने की उन्हें प्रेरणा भी देती थीं। उनके कारण पन्द्रह सौ स्वर्ण पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ घर-घर पहुँची और धवला, जय धवला की सौ-सौ प्रतियॉ जिनालयों में स्थापित हुई।

इसके अतिरिक्त गाँव-गाँव में पाठशालाएँ, कुएँ, धर्मशालाएँ आदि की योजना कराती थीं और दीन-दुःखियों की सेवा करती थीं। यही कारण था कि वे दान चिन्तामणि अत्तिमब्बे कहलायीं। उन्हें कर्नाटक माता भी कहा जाता था। उनके स्पर्श मात्र से रोगी बालक निरोग हो जाते थे। ऐसे अतिशयों के कारण उन्हें भक्तशिरोमणी, संस्कृति मुकुटमणि कहकर आदर किया जाता था। उन्होंने अपने जीवनकाल में जैनधर्म का बहुत प्रचार-प्रसार किया।

('जैन बद्री के बाहुबली' से साभार)

त्यागाय श्रेय से वित्तमवित्तः संचिनोतियः।
स्वशरीरं स पङ्केन, स्नास्यामीति विलिम्पति।।

– इष्टोपदेश, 16

जो निर्धन मनुष्य दान करने तथा अपने सुख (हित) के लिये धन को एकत्रित करता है वह मनुष्य मैं स्नान करूँगा इस विचार से अपने शरीर को कीचड़ से लीपता है।

कटवप्र : एक अप्रतिम समाधि-स्थल

– प्रा. नरेन्द्रप्रकाश जैन

अतिशय क्षेत्र श्रवणबेलगोल स्थित चिक्कवेट्ट का प्राचीन नाम कटवप्र (संस्कृत) या कलवप्पु (कन्नड़) है। 'कट' या 'कल' शब्द का अर्थ है 'मृत्यु' तथा 'वप्र' या 'वप्पु' पर्वत को कहते हैं। इसका इतिहास 2300 वर्ष प्राचीन है। ईसा पूर्व तीसरी सदी में भगवान् महावीर की परम्परा के अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु उत्तर से चलकर यहाँ आए थे और अपनी अल्पायु शेष जानकर उन्होंने यहॉ काय और कषाय को कृश करते हुए सल्लेखना विधि से देहोत्सर्ग किया था। सम्राट् चन्द्रगुप्त भी अपना विशाल साम्राज्य अपने पुत्र बिम्बसार को सौंपकर 48 वर्ष की उम्र में आचार्य भद्रबाहु और उनके संघस्थ दो हजार मुनियों की सेवा-परिचर्या करते हुए यहाँ आकर उनके शिष्य बन गए थे। अपने दीक्षा-गुरू के महाप्रयाण के बारह वर्ष बाद उन्होंने भी समाधिपूर्वक देह-त्याग का आदर्श प्रस्तुत किया था। बाद में उनकी स्मृति में ही कटवप्र का एक नाम 'चन्द्रगिरि' प्रचलित हो गया।

ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी से ईसा की छठवीं शताब्दी तक जैन श्रमणों (मुनियों) के निरन्तर आवागमन होते रहने से ही इस श्रीक्षेत्र का **'श्रवणबेलगोल'** नाम प्रसिद्ध हुआ। यहॉ जैनों की बस्ती थी, इसलिए लोग इसे **'जैन बद्री'** भी कहते हैं। चन्द्रगिरि पर ध्यान करने वाले मुनि आहार के लिए नीचे बस्ती में आते थे। यहाँ पर उपलब्ध पॉच सौ से अधिक शिलालेखों से जैन धर्म और उसके अनुयायियों का गौरव प्रकट होता है। ईसवी सन् 600 के एक शिलालेख में कहा गया है कि इसी पवित्र कटवप्र की शीतल शिलाओं पर आचार्य भद्रबाहु और मुनि चन्द्रगुप्त का अनुसरण करते हुए सात सौ मुनि महाराजों ने तपश्चरणपूर्वक देह-त्याग का मार्ग अंगीकार किया। प्राचीन इतिवृत्त और पुराणों में कहा

गया है कि यह कटवप्र ज्ञानोदय एवं आध्यात्मिक साधना के लिए आने वाले धर्मनिष्ठ सन्तों का प्रिय बसेरा था। समाधि-मरण की यह परम्परा यहाँ बारहवीं सदी तक चलती रही। उस समय यह पर्वत कोलाहल-रहित एक शान्त स्थान था। बाद में यात्रियों का आवागमन बढ़ जाने पर यह क्रम टूट सा गया।

यहाँ के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, शिवकोटि, पूज्यपाद, गोल्लाचार्य, प्रभाचन्द्र, वादिराज आदि की चरण-रज से यह स्थान पवित्र होता रहा है। आचार्य भद्रबाहु और मुनि चन्द्रगुप्त के देहावसान के बाद भी जिन महानात्माओं ने यहाँ से समाधि प्राप्त की, उनमें आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती, आचार्य धर्मनिष्ठ, माँ काललदेवी, महाराजा विष्णुवर्धन के प्रतापी महादण्डनायक गंगराज, उनकी माँ पोचब्बे, कर्नाटक-माता नाम से प्रसिद्ध दानशीला अत्तिमब्बे, जैन धर्म की प्रभावक महिला-रत्न महारानी शान्तला की माँ माचिकब्बे, तीन राजवंशों गंग, राष्ट्रकूट एवं विजय नगर के राजा क्रमशः मारसिंह, इन्द्र और देवराज आदि के नाम उल्लेख्य हैं। तपश्चरण और समाधि से पवित्र इस पर्वत को **तीर्थगिरि** और **ऋषिगिरि** के नाम से भी जाना जाता है।

चन्द्रगिरि पर द्राविड़ वास्तु-शैली से निर्मित चौदह कलापूर्ण मंदिर हैं, जो एक परकोटे में बने हुए हैं। यह कोटा या परकोटा **'सुत्तालय'** कहलाता है। यहाँ तक 225 कम ऊँचाई वाली सीढ़ियों से आसानी से पहुँचा जा सकता है। यहाँ का सबसे पुराना मन्दिर चन्द्रगुप्त बसदि है। यह मन्दिर दक्षिणाभिमुखी है। इस मंदिर के एक जलान्ध्र में 60 चित्र–फलक हैं, जिनमें श्रुतकेवली भद्रबाहु और सम्राट् चन्द्रगुप्त के जीवन के दृश्य उकेरे गए हैं। **यह चित्रफलक कारीगरी का एक उत्कृष्ट नमूना है।**

यहाँ के सभी मन्दिरों में विराजमान तीर्थंकर प्रतिमाओं में गजब का आकर्षण है। यक्ष-यक्षिणियों की मूर्तियों की सूक्ष्म पच्चीकारी को देखकर कलाकारों की छैनी का लोहा मानना पड़ता है। सभी मन्दिरों को तीन

भागों गर्भगृह, नवरंग और द्वार मण्डप के रूप में विभाजित किया गया है। मंदिर-परिसर में अनेक शिलालेख भी संरक्षित हैं।

चन्द्रगिरि पर ध्यान करने योग्य अनेक शिलायें और कन्दरायें हैं। जिस कन्दरा में भद्रबाहु ने शरीर का त्याग किया और जिसमें मुनि चन्द्रगुप्त ने भी बारह वर्षो तक उत्कट आत्म साधना की, वह **'भद्रबाहु गुफा'** कहलाती है। इसमें उन महान् आचार्यश्री के चरण स्थापित हैं। गुफा को चट्टान की एक कुदरती छत ने कमरे का रूप दे दिया है। भक्तों की मान्यता है कि इन चरणों की भावपूर्वक पूजा करने से मनोकामनाएं पूर्ण होती हैं।

चन्द्रगिरि प्राकृतिक सौन्दर्य का दिव्य धाम है। **लोग तो कश्मीर को धरती का स्वर्ग कहते हैं, किन्तु भव्यजीवों का स्वर्ग तो यह चन्द्रगिरि है।** इस कलिकाल में धर्माराधन और तप-त्याग के द्वारा स्वर्ग के रास्ते मुक्ति की ओर गमन करने के लिए चन्द्रगिरि एक उत्तम स्थान है। यहाँ की सुरम्य चट्टानों में अद्भुत चुम्बकीय आकर्षण है। यात्री का यहाँ वार-वार आने का मन होता है।

– 104, नई बस्ती
फीरोजाबाद (उ.प्र.)

अंबर-लोह-महीणं कमसो जहमल-कलंक-पंकाणं।
सोज्झावणयण-सोसे साहेंति जलाडणलाऽऽइच्चा।।

– ध्यानशतक, 97

जिस प्रकार जल वस्त्रगत मैल को धोकर उसे स्वच्छ कर देता है उसी प्रकार ध्यान जीव से कर्मरूप मैल को धोकर उसे शुद्ध कर देने वाला है।

श्रुतकेवली भद्रबाहु और उनका समाधिमरण

–डॉ. श्रेयांस कुमार जैन

भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद तीन अर्हत् केवली गौतम, सुधर्म और जम्बूस्वामी ने संघ का नेतृत्व किया। अनन्तर द्वादशांग श्रुत के ज्ञाता विष्णु, नन्दिमित्र अपराजित गोवर्द्धन और भद्रबाहु पांच श्रुतकेवली हुए।[1] गोवर्द्धनाचार्य के साक्षात् शिष्य प्रभावशाली तेजोमय व्यक्तित्व सम्पन्न श्रुतकेवली[2] भद्रबाहु अप्रतिम प्रतिभावान् थे और इनका व्यक्तित्व सूर्य के समान तेजस्वी था।[3] भद्रबाहु अध्यात्म के सबल प्रतिनिधि श्रुतधारा को अविरल और अखण्डित रूप में श्रुतधर गोवर्द्धनाचार्य से ग्रहण कर उसे सुरक्षित रखने वाले अन्तिम श्रुतकेवली थे, जिन्हें महर्षि कुन्दकुन्द ने अपने गमक गुरू के रूप में स्वीकार किया है।[4] श्रुतधर भद्रबाहु दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में सम्मानास्पद को प्राप्त हुए हैं। श्वेताम्बर इन्हें यशोभद्र का शिष्य स्वीकार करते हैं।[5]

बृहत्कथाकोषकार ने भद्रबाहु का जन्म पौण्ड्रवर्द्धन राज्य के कोटिकपुर (कोटपुर) ग्राम में बताया है और राज्य पुरोहित सोमशर्मा–सोमश्री के पुत्र कहा है। एक बार गोली के ऊपर गोली चढ़ाते हुए उन्होंने चौदह गोलियां एक दूसरे के ऊपर चढ़ा दी, यह खेल गोवर्द्धनाचार्य ने देखा और अपने निमित्त ज्ञान से जाना कि यह चौदह पूर्व के ज्ञाता होंगे तभी उनके पिता से बालक भद्रबाहु को अपने साथ ले जाने की अनुमति ली और साथ रख कर आगम का अभ्यास करा दिया। दीक्षा ग्रहण कर वह श्रुतधर हो गये। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के **'तित्थोगालिय पइन्ना'** आवश्यकचूर्णि, निर्युक्ति आदि ग्रन्थों में श्रुतधर भद्रबाहु के कुछ जीवन प्रसंग हैं, किन्तु उनके माता-पिता आदि गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित सामग्री नहीं है। नन्दीसूत्र में इन्हें 'प्राचीन' गोत्रीय कहा है।[6] **दश श्रुतस्कन्धनिर्युक्ति** में भी प्राचीन गोत्री कहकर वन्दन किया है।[7] **तित्थोगालिय पइन्ना** में इनके श्रेष्ठ शरीर

रचना के विषय में लिखा है–

सत्तमत्तोथिरबाहु जाणुयसीससुपडिच्छिय सुबाहो।
नामेण भद्दबाहो अविही साधम्म सद्दोत्ति।। 4 ।।
सोवियचोद्दस पुव्वी वारस वासाइ जोगपडिवभो।
सुत्तत्थेणं निबंधइ अत्थं अज्झयणबंधस्स।। 715।।

योग साधक श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु महासत्व सम्पन्न थे, उनकी भुजाएं प्रलम्बमान सुन्दर सुदृढ़ और सुस्थिर थीं। ये सामर्थ्य–सम्पन्न, अनुभव सम्पन्न, श्रुत सम्पन्न अनुपम व्यक्तित्व थे। कल्पसूत्र स्थविरावली में इनके स्थविर गौदास, स्थविर अग्निदत्त, स्थविर भत्तदत्त, स्थविर सोमदत्त, इन चार शिष्यों का उल्लेख है।[8] श्वेताम्बर परम्परा आचार्य भद्रबाहु को श्रुतधर और आगम के रचनाकार के रूप में प्रस्तुत करती है। उन्होंने छेदसूत्रों की रचना की है। आगम साहित्य में छेदसूत्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दश श्रुतस्कन्ध, वृहत्कल्प व्यवहार, निशीथ, इन चार छेदसूत्रों की रचना आचार्य भद्रबाहु के द्वारा की गई है।

दिगम्बर साहित्य में आचार्य भद्रबाहु का व्यक्तित्व बहुत महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है। चन्द्रगिरि के शिलालेख में उनके विषय में लिखा है कि जिसमे समस्त शीलरूपी रत्नसमूह भरे हुए हैं और जो शुद्धि से प्रख्यात है, उस वंश रूपी समुद्र में चन्द्रमा के समान श्री भद्रबाहु स्वामी हुए। समस्त बुद्धिशालियों में श्री भद्रबाहु स्वामी अग्रेसर थे। शुद्ध सिद्ध शासन और सुन्दर प्रबन्ध से शोभा सहित बढ़ी हुई है व्रत की सिद्धि जिनकी तथा कर्मनाशक तपस्या से भरी हुई है कीर्ति ऐसे ऋद्धिधारक श्री भद्रबाहु स्वामी थे।[9] इनकी महिमा का ज्ञान शिलालेख में इस प्रकार किया गया है–

वर्ण्यः कथन्नु महिमा भण भद्रबाहो–
र्म्मोहो-मल्ल-मदमर्दन वृत्तबाहोः।
यच्छिष्यताप्तसुकृतेन स चन्द्रगुप्तः–
श्शुश्रुष्यतेस्म सुचिरं वन-देवताभिः।। जै.शि.सं.भा.1/पृ. 101

भला कहो तो सही कि मोहरूपी महामल्ल के मद को चूर्ण करने वाले श्री भद्रबाहु स्वामी की महिमा कौन कह सकता है? जिनके शिष्यत्व के पुण्यप्रभाव से वनदेवताओं ने चन्द्रगुप्त की बहुत दिनों तक सेवा की।

श्रुतकेवली भद्रबाहु के विविध जीवन प्रसंगों से उनका माहात्म्य स्पष्ट है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराएं उनको अति महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करती हैं फिर भी उनके शिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। श्रुतधर भद्राबाहु और निमित्तधर भद्रबाहु के पार्थक्य का भी उल्लेख मिलता है।

दिगम्बर परम्परा के हरिषेण कृत बृहत्कथाकोष एवं रत्ननन्दी कृत 'भद्रबाहुचरित' के उल्लेखानुसार श्रुतकेवली भद्रबाहु अवन्ति देश पहुँचे।[10] वहाँ के शासक श्री चन्द्रगुप्त ने अपने द्वारा देखे गये 16 स्वप्न भद्रबाहु स्वामी को सुनाये। उन्होंने उनका फल अनिष्टसूचक बताया, जिससे सम्राट को वैराग्य हो गया। उसने श्रुतकेवली भद्रबाहु से श्रमण दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा लेने वाले अन्तिम सम्राट चन्द्रगुप्त थे।[11] गोवर्द्धनाचार्य के बाद 29 वर्ष जिनशासन की प्रभावना काल श्री भद्रबाहु का रहा है।

श्वेताम्बर परम्परा श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य चन्द्रगुप्त को नहीं मानती है। आवश्यकचूर्णि में श्रुतकेवली भद्रबाहु की नेपाल यात्रा का कथन किया गया है।[12] श्वेताम्बरीय साहित्य तित्थोगालिय पइन्ना, आवश्यकनिर्युक्ति, परिशिष्ट पर्व आदि ग्रन्थों में श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवन प्रसंग उपलब्ध हैं, किन्तु उनके शिष्य चन्द्रगुप्त का उल्लेख नहीं है और न दक्षिण यात्रा का ही उल्लेख है। हाँ, ऐसा उल्लेख अवश्य है कि भद्रबाहु विशाल श्रमण संघ के साथ दुष्काल में बंगाल में रहे जैसा कि श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थ परिशिष्ट पर्व में लिखा है–

इतश्च तस्मिन् दुष्काले कराले काल रात्रिवत्।
निर्वाहार्थं साधुसंघस्तीर नीर निधेर्ययौ।।

अर्थात् जीवन निर्वाहार्थ साधुसंघ समुद्री किनारों पर दुष्करल की घड़ियों

में विहरण कर रहा था। यही अभिमत आचार्य हेमचन्द्र सूरि का है।

दिगम्बरीय साहित्य में श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ उनके शिष्य चन्द्रगुप्त का उल्लेख[13] तो ही है साथ में उत्तर में दुष्काल पड़ने के कारण दक्षिण में विहार का प्रसंग तो बहुत विस्तार से प्रतिपादित किया गया है। श्री भद्रबाहु ने कथानक में प्रसंग है[14] कि एक दिन आचार्य श्री भद्रबाहु ने गोचरी के लिए नगर में जिनदास श्रेष्ठी के घर मे प्रवेश किए तो वहाँ पालने में लेटे हुए बालक ने देखकर कहा, 'जाओ जाओ' तब भद्रबाहु ने उससे पूछा कितने समय के लिए? उस अबोध बालक ने द्वादश वर्ष के लिए जाओ, ऐसा कहा। आचार्य बिना आहार ग्रहण किए उद्यान में लौटे वहाँ समस्त संघ को बुलाकर बताया कि यहाँ मालव (अवन्ति उज्जयिनी) देश में 12 वर्ष का दुष्काल पड़ेगा। समस्त संघ दक्षिण की विहार करने की तैयारी में जुट गया। अनन्तर 12000 साधुओं के साथ दक्षिण की ओर जब भद्रबाहु आगे बढ़े तब अनेक श्रेष्ठियों ने रोकने का प्रयत्न किया, किन्तु वे वहाँ नहीं रुके। संघ के साथ श्रुतकेवली भद्रबाहु धन, जन, धान्य, सुवर्ण, गाय, भैंस आदि पदार्थो से भरे हुए अनेक नगरों में होते हुए पृथिवी तल के आभूषण रूप इस श्रवण बेलगोल के चन्द्रगिरि (कटवप्र) नामक पर्वत पर पहुँचे।[15] इसी पर्वत पर उन्हें निमित्त ज्ञान से ज्ञात हो गया कि मेरी आयु अल्प है, ऐसा समझकर उन्होने समाधिरण करने का विचार बनाया। भगवान् जिनेन्द्र की देशना के आधार पर आचार्य लिखते हैं–

मन्दाक्षत्वेऽतिवृद्धत्वे चोपसर्गे व्रतक्षये,
दुर्भिक्षे तीव्ररोगे चासाध्ये कायबलात्यते।
धर्मध्यानतनूत्सर्गं हीयमानादिके सति,
संन्यासविधिना दक्षैर्मृत्युः साध्यः शिवाप्तये।।

इन्द्रियों की शक्ति मन्द हो जाने पर अतिवृद्धपना एवं उपसर्ग आ जाने पर शरीरिक बलक्षीण होने पर तथा धर्मध्यान और कायोत्सर्ग करने की शक्ति हीन हो जाने पर सल्लेखना अवश्य ग्रहण करना चाहिए।

सल्लेखना और समाधिमरण ये दोनों पर्यायवायी शब्द हैं। आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्डश्रावकाचार में सल्लेखना का लक्षण लिखते हैं–

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रूजायां च निःप्रतिकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः।। 122।। रत्न.श्रा.

अर्थात् निष्प्रतीकार उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और रोग के उपस्थित होने पर धर्म की रक्षा के लिए, शरीर के परित्याग का नाम सल्लेखना है। सल्लेखना तुरन्त बाद समाधिमरण ग्रहण करने की प्रेरणा दी है।

अन्तः क्रियाधिकरणं तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्।। 123।। रत्न.श्रा.

जीवन के अन्त समय में समाधिरूप क्रिया का आश्रय लेना ही जीवन भर की तपस्या का फल है। ऐसा सर्वदर्शी भगवन्तों ने कहा है।

आचार्य शिवकोटि ने सल्लेखना और समाधिमरण भेद नहीं रहने दिया। आचार्य उमास्वामी ने भी सल्लेखना और समाधिमरण को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है।

समाधिमरण व्रत-तप का फल है, जैसा कि कहा भी है–

तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च।
पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्युः समाधिना।। मृत्यु महोत्सव

अर्थात् तपे हुए तप, पालन किए हुए व्रत, पढ़े हुए शास्त्रों का फल समाधिमरण में है बिना समाधिमरण के ये सब व्यर्थ है।

इसलिए जब तक शक्ति रहे, तब तक समाधिमरण में प्रयत्न करना चाहिए।

आचार्य शिवकोटि ने समाधिमरण के कर्ता की स्तुति करते हुए कहा है कि जिन्होंने भगवती आराधना को पूर्ण किया, वे पुण्यशाली और ज्ञानी हैं और उन्हें जो प्राप्त करने योग्य था, उसे प्राप्त कर लिया।

सल्लेखक/क्षपक एक तीर्थ है, क्योंकि संसार से पार उतारने में निमित्त है। उसमें स्नान करने से पाप कर्मरूपी मल दूर होता है। अतः जो दर्शक समस्त आदर भक्ति के साथ उस महातीर्थ में स्नान करते हैं, वे भी कृतकृत्य होते हैं तथा वे सौभाग्यशाली हैं।[16] पण्डित आशाधर जी ने कहा है– "जिस महासाधक ने संसार परम्परा को सम्पूर्ण रूप से उन्मूलन करने वाले समाधिमरण को धारण किया है, उसने धर्मरूपी महान् निधि को पर-भव में जाने के लिए साथ ले लिया है। इस जीव ने अनन्त बार मरण प्राप्त किया, किन्तु समाधि सहित पुण्य मरण नही हुआ। यदि समाधि सहित पुण्य-मरण होता, तो यह आत्मा संसार रूपी पिंजड़े में कभी भी बन्द होकर नहीं रहता।[17] भगवती आराधना में ही कहा गया है कि जो जीव एक पर्याय में भी समाधिपूर्वक मरण करता है, वह सात-आठ पर्याय से अधिक संसार परिभ्रमण नहीं करता है।[18] कहा है– जो महान् फल बड़े बड़े व्रती संयमी आदि को काय-क्लेश आदि उत्कृष्ट तप तथा अहिंसा आदि महाव्रतों को धारण करने से प्राप्त नहीं होता, वह फल अन्त समय में समाधिपूर्वक शरीर त्यागने से प्राप्त होता है।[19]

उक्त भावों को धारण कर ही श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी ने सल्लेखना/समाधि ग्रहण की थी।

बृहत्कथाकोष में बताया गया है कि भद्रबाहु की समाधि अवन्ति (उज्जयिनी) में ही हुई थी यथा–

प्राप्य भाद्रपदं देशं श्रीमदुज्जयिनीभवम्।
चकाराऽनशनं धीरः स दिनानि बहून्यलम्।।
समाधिमरणं प्राप्य भद्रबाहुर्दिवं ययौ।

(हरिषेणकृत बृहत्कथाकोष)

अर्थात् भद्रबाहु अवन्ति के भद्रपाद नामक स्थान में विराजे, वहीं उनका अनशन की अवस्था में समाधिमरण हो गया।

रत्ननन्दी ने भी यही लिखा है कि भद्रबाहु दक्षिण की ओर बढ़े किन्तु

थोड़े ही दूर जाकर प्राकृतिक संकेतों के आधार पर उन्हें अपना अन्तिम समय सन्निकट प्रतीत हुआ।[20] उन्होंने वहीं रुक कर समाधि ग्रहण कर ली।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार नेपाल में भद्रबाहु की समाधि मानी जाती है। वहाँ लिखा है कि जैन शासन को द्वितीय शताब्दी मध्यकाल में दुष्काल के भयंकर वात्याचक्र से जूझना पड़ा। उचित शिक्षा के अभाव में अनेक श्रुत सम्पन्न मुनि काल-कवलित हो गये। भद्रबाहु के अतिरिक्त कोई भी मुनि चौदह पूर्व का ज्ञाता नही बचा था। वे उस समय नेपाल की पहाड़ियों में महाप्रयाण ध्यान की साधना कर रहे थे। सघ को इससे गम्भीर चिन्ता हुई। आगमनिधि की सुरक्षा के लिए श्रमण सघाटक नेपाल पहुँचा। वहाँ संघ ने निवेदन किया कि आप मुनिजनों को दृष्टिवाद की ज्ञानराशि से लाभान्वित करें।[21]

रामचन्द्र मुमुक्षु रचित पुण्यास्रव कथाकोष के अन्तर्गत भद्रबाहुचरित में वर्णित है कि दक्षिण की एक गुफा में आकाशवाणी से अपनी अल्पायु सुनकर भद्रबाहु ने विशाखाचार्य को ससंघ चोलदेश भेज दिया और स्वयं अपने शिष्य चन्द्रगुप्त के साथ वहीं रुक गये और वही की गुफा में आत्मस्थ होकर रहने लगे।[22] महाकवि रइधू ने लिखा है कि जब भद्रबाहु मध्यरात्रि को ध्यान में स्थित थे तभी वाणी उत्पन्न हुई कि तुम्हारी निषिद्धिका (समाधिभूमि) यहाँ ही होगी।[23] इस आकाशवाणी को सुनकर श्री भद्रबाहु स्वामी ने जान लिया कि– समाधिमरण/सल्लेखना धारण करने का समय है।

साधक की दीर्घकालीन साधना का फल समाधिमरण है। दीर्घकाल से व्रताचरण करते हुए भव्य जीव की सफलता समाधिमरण से होती है।

जब जाना कि "अपने पवित्र मुनिपद की आयु अब थोड़ी ही रह गयी है" तब उन्होंने श्री विशाखाचार्य के नेतृत्व संघ को आगे भेज कर उसी पर्वत पर समाधि ग्रहण कर ली। उनकी सेवा हेतु चन्द्रगुप्त वहीं रुक गये। भद्रबाहु ने शरीर अशक्तता के कारण चतुर्विध प्रकार के आहार का त्याग

कर समाधि ग्रहण कर ली। गुरु आज्ञापूर्वक चन्द्रगुप्त (प्रभाचन्द्र) ने कान्तार चर्या की। श्रुतकेवली भद्रबाहु ने चेतन का ध्यान करते हुए धर्मध्यान पूर्वक प्राण त्याग किये और स्वर्ग सिधारे।[24] कुछ कथाकारों द्वारा लिखा गया है कि दुष्काल मगध में पड़ा और वहाँ के राजा चन्द्रगुप्त को दीक्षा देकर और अपने साथ लेकर दक्षिण देश को गये। स्वयं तो मुनि चन्द्रगुप्त के साथ एक गुहाटवी में रुक गये और विशाखाचार्य के नेतृत्व में संघ, चोल, तमिल, पुन्नाट देश की ओर भेज दिया।

उक्त कथानकों एवं शिलालेखों के आधार पर श्रुतकेवली भद्रबाहु के भाद्रपद देश, दक्षिणाटवी, शुक्लसर या शुक्लतीर्थ आदि समाधि स्थल के नाम प्राप्त होते हैं, किन्तु शिलालेखीय प्रमाण यथार्थ मालूम होते हैं। अतः विचार करने पर उक्त नाम श्रवणबेलगोल के ही प्रतीत होते हैं। शब्द भेद होने पर भी अर्थभेद नहीं होना चाहिए, ऐसा लगता है।[25]

समाधिमरण जीवन की अन्तिम बेला में की जाने वाली एक उत्कृष्ट साधना है। इसी उद्देश्य से श्रुतकेवली भद्रबाहु ने शरीर की क्षीणता और अपनी अल्पायु निमित्त ज्ञान से जानकर समाधि ग्रहण की थी। प्रत्येक साधक व्रत धारण का फल-समाधिमरण यह भली-भांति जानता है। इसलिए समाधिमरण की पवित्र भावना/याचना करता है– **दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो, सुगइगमणं समाहिमरणं ...**। अर्थात् दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, बोधिलाभ हो, सुगति में गमन हो, समाधिमरण हो! साधक को मृत्यु का भय नहीं रहता, वह तो प्रसन्नता पूर्वक ज्ञान वैराग्य भावना तत्पर होकर मृत्यु को महोत्सव मानता है।[26] साधक समाधि के लिए अरिहन्त सिद्ध की प्रतिमाओं से युक्त पर्वत आदि योग्य स्थान का चयन करते हैं।[27] इसीलिए श्रुतकेवली भद्रबाहु ने सर्वदृष्टि से उचित चन्द्रगिरि (कटवप्र) को समाधि के लिए चुना। भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त की तपस्या और सल्लेखना विधि के द्वारा इस छोटी पहाड़ी (चिक्कवेट्ट) पर शरीर त्याग से यह स्थल तीर्थ बन गया। श्रुतकेवली भद्रबाहु और सम्राट चन्द्रगुप्त का अनुकरण करते हुए समाधिमरण के लिए पवित्र स्थान के

रूप में यह चन्द्रगिरि पहाड़ी इतनी प्रसिद्ध हुई कि यहाँ के सबसे प्राचीन 600 ई. के शिलालेख में इसे कटवप्र या कल्पवप्पु (समाधिशिखर) तीर्थगिरि एवं ऋषिगिरि कहा गया है।

सल्लेखना पूर्वक श्रुतकेवली भद्रबाहु ने वी.नि. 155 में चन्द्रगिरि पर समाधिमरण को प्राप्त कर अपने को कृत्कृत्य किया। सल्लेखना उच्चतम आध्यात्मिक दशा का सूचक है। मृत्यु का आकस्मिक वरण नहीं है और न वह मौत का आह्वान है। वरन जीवन के अन्तिम क्षणों में सावधानी पूर्वक चलना है।

इसे जीवन की अन्तिम साधना कहा जा सकता है। वास्तव में जीवन रूपी मन्दिर का भव्य कलश है। इसी चिन्तन पूर्वक श्रुतकेवली भद्रबाहु ने समाधिमरण धारण कर कर्मभार को हल्का किया। अपने साधक जीवन के रहस्य को पहचाना और साधना को सफल कर स्वर्गस्थ हुए।

रीडर–संस्कृत विभाग, दि. जैन कॉलेज, बड़ौत

सन्दर्भः

1. सुयकेवलणाणी पच जणा विण्हु नन्दिमित्तो य।
   अपराजिय गोवद्धण तह भद्दबाहु य सजादा।। नन्दीसंघ वलात्कारगण स.ग प्रा पा.
2. जो हि सुदेणाभिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्ध।
   तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा।।
   जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा।
   णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुदकेवली तम्हा।। 9 10।। समयसार
3. यो भद्रबाहुः मुनिपुगव पट्टपद्म।
   सूर्यः स वो दिशतु निर्मलसघवृद्धिभ।। जैनसिद्धान्तभास्कर भाग 1 किरण 4 पृ. 51
4. वारस अगवियाणं चउदस पुव्वंगविउल वित्थरणं।
   सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरु भयवओ जयओ।। 62।।
   सद्दवियारो हुओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहिय।
   सो तह कहियं णायं सीसेणं य भद्दबाहुस्स।। 61।। बोधपाहुड़

5. भद्रबाहु ने वैराग्यपूर्वक श्रुतधर आचार्य यशोभद्र के पास वी.नि. 139 (वि.पू. 331) मे मुनिदीक्षा ग्रहण की। गुरू के पास 17 वर्ष तक रहकर उन्होंने आगमो का गम्भीर अध्ययन किया।
6. भद्रबाहुं च पाईणं (नन्दी स्थविरावली)
7. वंदामि भद्दबाहुं पाईण चरिम सथल सुयनाणिं
8 थेररसणं अज्जभद्दबाहुस्स पाईत्त सगुत्तस्स इमे चत्तारि अतेवासी
अहावच्चा अभिन्नाया हुत्था ते जहा थेरे गोदासे थेरे अगिदत्ते
थेरे भवदत्ते 4 थेरे सोमदत्ते।
9 शिलालेख संग्रह भा. 1
10. चन्द्रावदातसत्कीर्तिश्चन्द्रवन्मोदकर्तृ (कृन्न) णाम्।
चन्द्रगुप्तिर्नृपस्तत्राऽचकच्चारु गुणोदय ।। 6।। भद्रबाहुचरित परि.
11 मउडधरेसु चरियो जिणदिक्ख धरदिचद्दगुत्तो य।
तत्तो मउडधरादुंप्पवज णेव गेण्हति।। तिलो प. 4/1481
12. 'नेपाल' वत्तिणीए य भद्दवाहुसाभी अच्छति चोद्दस्स पुव्वी। आश्यकचूर्णि भाग-2 पत्राक 187
13. श्रीभद्रस्सर्वतो यो हि भद्रबाहुरिति श्रुत.।
श्रुतकेवलिनाथेषु चरम परमो मुनि ।।
श्री चन्द्रप्रकाशोज्ज्वलसान्द्रकीर्ति, श्री चन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्य.।
यस्य प्रभावाद्वनदेवताभिगराधित स्वम्य गणो मुनीनाम्।। शिलालेख न.3
जै शि.सं भा.1
14 वृहत्कथाकोष (भद्रबाहु कथा)
15 अथखलु ..... गुरुपरम्पराणामभ्यागतमहापुरुपसन्ततिसमयद्योतान्वय श्री भद्रवाहु स्वामिना उज्जयिन्या अष्टांगमहानिमित्त तत्त्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादशसम्वत्सरकालवैपम्यमुपलभ्यकथिते सर्वसंघ उत्तरपथात् दक्षिणापथं प्रस्थितः .... कटवप्रनामकोपलक्षिते .... शिखरिणिजीवितिशेषम् अल्पतरकाल अवुध्याध्वनः सुचकित तप समाधिमाराधयितुमापृच्छय निरवशेषसंघं विसृज्य शिष्येणैकेन पृथुलकास्तीर्णतलासु शिलासु शीनलासु स्वदेह सन्नयस्यागधितवान्।
उद्धृत श्वेताम्वरमत समीक्षान पृ. 161
16. भगवती आराधना 1996 व 1992

17. सागारधर्मामृत 7/58 और 8/27-28
18. भगवती आराधना
19. शान्तिसोपान 81
20. अथाऽसौ विहरन्स्वामी भद्रबाहुः शनैः शनैः ।
    प्रापन्महाटवीं तत्र शुश्रव गगनध्वनिम्।।
    श्रुत्वा ....
    आयुरलिपष्ठमात्मीयमज्ञासीद् बोधलोचनः ।। तृतीय परि. भद्रबाहुचरित्त
21. आवश्यकचूर्णिः भाग 2 पत्रांक 187
22. पुण्यास्रव कथाकोष (जीवराजग्रन्थमालासोलपुर) पृ. 365
23. तुम्महँणिसही इत्थुजिहो सई गयणसद्दुएरिसु तहुघोसइ।।
    (भद्रबाहु चाणक्य चन्द्रगुप्त कथा)
24. भद्दबाहु चेयणि झाएप्पिणु धम्मज्झाणं णाण चएप्पिणु।।
    भद्रबाहु चा. चन्द्र. कथा रइधू (286)
25. भद्रबाहु चरित प्रस्तावना पृ. 11 (सम्प. डॉ. राजा राम जैन)
26. संसारासक्तचित्ताना मृत्युभीतैः भवेन्नृणाम्।
    मोदायते पुनः सोऽपि ज्ञानवैराग्यवासिनाम्।। मृत्यु महोत्सव।
27. अरिहतसिद्धसायर पउमसरं खीरपुप्फ फालभरिदं।
    उज्जाण भवण पासादं णाग जक्खधर।। 560 मूलाराधना।

वीरवर चामुण्डराय

–डॉ. श्रेयांस कुमार जैन

भारत वसुन्धरा पर अनेक सम्राट और मंत्री हुए हैं, जो कुशल प्रशासक के साथ महान् साहित्यकार थे, उन्हीं में वीरमार्तण्ड श्री चामुण्डराय विश्रुत हैं। ब्रह्मक्षत्रियवंशोत्पन्न[1] चामुण्ड के पिता गंगवंश के राज्याधिकारी थे और माता श्रीमती कालिका देवी धार्मिक महिला थीं। माता–पिता से धार्मिक संस्कार प्राप्त चामुण्ड ने श्री अजितसेन गुरू से शिक्षा–दीक्षा ग्रहण की[2] और कन्नड़ तथा संस्कृत भाषा पारंगत हुए। दिगम्बर जैन साधु से शिक्षा प्राप्त होने से आपने जैन धर्म सिद्धान्त का विशेष ज्ञान प्राप्त कर लिया था। सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य से भी शिक्षा ग्रहण कर संस्कृत में ग्रन्थ रचना अधिकार को प्राप्त हो गये थे।

बाहुबलिचरित्र में लिखा है कि द्राविड़देश में एक मथुरा नामक नगरी थी, जो वर्तमान में मडूरा (मदुरै) नाम से प्रसिद्ध है, वहाँ देशीयगण के स्वामी श्री सिंहनन्दी आचार्य के चरणकमल सेवक गंगवंश तिलक श्री राचमल्ल राजा हुए।[3] इनके मुख्य मंत्री श्री चामुण्ड थे, जैसा कि लिखा है–

तस्यामात्यशिखामणिः सकलवित्सम्यक्त्वचूड़ामणि–
र्भव्याम्भोजवियन्मणिः सुजनवन्दिव्रातचूड़ामणिः।
ब्रह्मक्षत्रियवैश्यशुक्तिसुमणिः कीर्त्यौघमुक्तामणिः
पादन्यस्तमहीशमस्तकमणिश्चामुण्डभूपोऽग्रणीः।। बाहु.चरित-11

इस कथन के अनुसार श्री चामुण्ड भूप महामंत्री हुए, वह एक दिन राचमल्ल की सभा में विराजमान थे, उस समय किसी सेठ ने आकर प्रणाम करके कहा कि महाराज! उत्तर दिशा में पोदनपुर नगर है, वहाँ पर भरत चक्रवर्ती द्वारा स्थापित कायोत्सर्ग मुद्रा में श्री बाहुबली का बिम्ब है, जो

वर्तमान में गोम्मट इस नवीन नाम से भूषित है। इत्यादि वृतान्त को सुनकर राजा राचमल्ल और चामुण्ड मंत्री दोनों अत्यन्त हर्षित हुए। चामुण्ड ने उस बिम्ब को वहीं से भाव नमस्कार किया। अनन्तर घर जाकर अपनी माता को बताया। माता ने उस बिम्ब के दर्शन की इच्छा व्यक्त की। श्री चामुण्ड ने देशीयगण में प्रधान श्री अजितसेन मुनि को नमस्कार करके बाहुबली स्वामी के बिम्ब के समाचार कहे और उनके समक्ष इस प्रकार की प्रतिज्ञा धारण की कि "मैं जब तक श्री बाहुबली की प्रतिमा का दर्शन नहीं करूँगा, तब तक दूध नहीं पीऊँगा।" अनन्तर सम्राट के सामने अपनी यात्रा का उद्देश्य निवेदित किया। सम्राट से आज्ञा लेकर सिद्धान्ताम्भोधिचन्द्र, सिद्धान्तामृतसागर आदि गुणों के धारक श्री नेमिचन्द्र स्वामी आचार्य एवं अनेक विद्वानों के समागम युक्त चतुरंग सेना सहित अपनी माता को भी साथ लेकर गोम्मट स्वामी श्री बाहुबली के बिम्ब दर्शन के लिए उत्तर दिशा की ओर श्री चामुण्ड ने प्रयाण किया। गमन करते हुए विन्ध्याचल पर्वत पर पहुँच कर जिनमन्दिर के दर्शन किए, वहीं उसी मन्दिर के मण्डप में सो गए। रात्रि में कूष्माण्डिनी देवी ने आचार्य श्री नेमिचन्द्र, चामुण्ड और चामुण्ड की माता को स्वप्न में कहा, "पादेनपुर जाने का मार्ग कठिन है। इस पर्वत में रावण द्वारा स्थापित श्री बाहुबली का प्रतिबिम्ब है, वह धनुष पर सुवर्ण के बाण चढ़ाकर पर्वत को भेदने पर प्रकट होगा" प्रातः काल श्री चामुण्ड ने श्री नेमिचन्द्र स्वामी को स्वप्न का वृतान्त सुनाया। उन्होंने स्वप्न के अनुकूल प्रवृत्ति करने को कहा! तदनुसार श्री चामुण्ड ने स्नान कर आभूषणों से भूषित होकर मुनि के समक्ष दक्षिण दिशा में खड़े होकर धनुष द्वारा सुवर्ण का बाण चलाया, जिससे पर्वत में छिद्र होकर वहाँ पर–

द्विप च ताल समलक्षण पूर्वगात्रो विंशच्छरासन समोन्नतभासमूर्तिः।
सन्माधवीव्रततिनागलसत्सुकायः सद्यः प्रसन्न इति बाहुबली बभूव।।

–बाहु.च. 43

अर्थात् "दशताल सम" लक्षणों से पूर्ण शरीर की धारक और बीस धनुष परिमाण ऊँची श्री बाहुबली की प्रतिमा प्रकट हुई।

श्री चामुण्ड ने भक्तिपूर्वक दर्शन किये और अभिषेक कर अपने आपको धन्य किया।

वहाँ से दक्षिण में पहुँचकर श्रवणबेल्गुल नगर में श्री गोम्मट स्वामी की प्रतिष्ठा की ओर 96 हजार दीनार को नव गोम्मट महोत्सव के निमित्त देकर गृहनगर की ओर प्रस्थान किया जैसा कि कहा भी है–

भास्वद्देशीगणाग्रेसरसुरुचिसिद्धान्तविन्नेमिचन्द्र–
श्रीपादाग्रे सदा षण्णवतिदशशत द्रव्यभूग्रामवर्यान्।
दत्वा श्री गोमटेशोत्सवनिमित्तार्चनविभवाय,
श्रीचामुण्डराजो निजपुरमथुरां सजगाम क्षितीशः।। बाहु च. 61

अर्थात् श्री चामुण्ड ने श्री नेमिचन्द्र स्वामी के चरित्रों की साक्षी पूर्वक 96 हजार दीनार के गॉव श्रीगोम्मट स्वामी के उत्सव अभिषेक व पूजन आदि के निमित्त देकर अपनी नगरी मथुरा में गाजे-बाजे के साथ प्रवेश किया और अपने नरेश श्री राचमल्ल को वृतान्त सुनाया, जिसे सुनकर महाराजा राचमल्लदेव ने श्री नेमिचन्द्र स्वामी के चरणों में नतमस्तक पूर्वक डेढ़ लाख दीनारों के गॉव श्री गोम्मट स्वामी की प्रभावना के निमित्त प्रदान किए और श्री चामुण्ड को जिनमत की महिमा बढ़ाने के फलस्वरूप राय पदवी से विभूषित किया। इसलिए श्री चामुण्डराय नाम तभी से प्रसिद्ध है। इनका अपर नाम गोम्मट था और गोम्मटराय भी कहे जाते थे। श्री नेमिचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार में इनके विजय की भावना की है।[4] 1180 के शिलालेख से भी ज्ञात होता है कि चामुण्डराय का दूसरा नाम गोम्मट था।[5]

श्रावक शिरोमणि चामुण्डराय ने विन्ध्यगिरि पर श्री बाहुबली की प्रतिमा का निर्माण कराया था। इसका उल्लेख सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड में किया है–

गोम्मटसंग्गहसुत्तं गोम्मटसिहरुवरि गोम्मट जिणो य।
गोम्मटराय विणिम्मिय दक्खिणकुक्कुडजिणो जयदु।। 968।।

अर्थात् गोम्मट शिखर पर चामुण्डराय राजा ने जिनमन्दिर बनवाया, उसमें एक हस्त प्रमाण इन्द्रनीलमणिमय नेमिनाथ तीर्थकर देव का प्रतिबिम्ब विराजमान किया तथा भारत के दक्षिण प्रान्त में श्रवणबेलगोला के पर्वत पर निर्मापित बाहुबली स्वामी की प्रतिमा विराजमान की, वह बिम्ब तथा गोम्मटसार संग्रह ग्रन्थ जयवन्त हो।

चामुण्डराय ने बाहुबली जिनबिम्ब के अतिरिक्त ब्रह्मदेव नामक एक स्तम्भ भी बनवाया था, जिस पर उनकी प्रशस्ति अंकित है। इन्होंने चन्द्रगिरि पहाड़ी पर एक मन्दिर निर्माण कराया था, जो चामुण्डराय वसति नाम से विख्यात है। बाहुबली की प्रतिमा के लिए गोम्मट नाम का प्रयोग सबसे प्राचीन 1158 ई. का है। वहाँ राचमल्ल नरेश के मंत्री का नाम 'राय' लिखा है न कि चामुण्डराय या गोम्मटराय लिखा है।[6]

जस्टिस मांगीलाल जैन चामुण्डराय का अपर नाम गोम्मटराय नहीं स्वीकार करते हैं और न सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमीचन्द्र के समकालीन मानते हैं। साथ में चामुण्डराय के द्वारा गोम्मटेश्वर प्रतिमा निर्माण का भी निषेध करते है, उन्होंने लिखा है– "आचार्य नेमिचन्द्र ने अपने गुरुभाई शिष्य व बालसखा कहे जाने वाले चामुण्डराय का नाम भूलकर भी नहीं लिया और न ही चामुण्डराय ने अपने ग्रन्थों में अपने आपको गोम्मटराय ही लिखा है। यह भी कहा जाता है कि स्वयं चामुण्डराय ने अपने पुराण में आचार्य नेमिचन्द्र का भी जिक्र नही किया है। अतः निष्कर्ष तो यही निकलता है कि न चामुण्डराय गोम्मटराय हैं और न चामुण्डराय नेमिचन्द्रचार्य के समकालीन। यदि मूर्ति चामुण्डराय ने बनाई होती, तो चामुण्डराय पुराण (979 ए.डी.) में वे इसके बनाने का न सही बनाने के संकल्प का तो अवश्य ही जिक्र करते। इस कृति में उन्होंने अपने ब्रह्मक्षत्रिय होने का तथा अपने गुरू अजितसेन का व अपनी उपाधियों का तो उल्लेख किया है, किन्तु अपने सखा गुरुभाई नेमिचन्द्र का उल्लेख नहीं किया है यदि मूर्ति 981 में प्रतिष्ठित हुई होती, **चामुण्डराय पुराण**[7] लिखते समय अथवा समाप्त करते समय इसका निर्माण चल रहा होगा। आश्चर्य यह है कि इस

कृति के समापन के आधार पर निर्माणकाल सन् 981 की मान्यता दृढ़ की गई है जबकि मूर्ति के निर्माण में दस वर्ष का समय लगा था।[8]

जस्टिस जी की उक्त खोज सटीक नहीं है, क्योंकि आचार्य नेमिचन्द्र ने स्वयं लिखा है कि उन्होंने चामुण्डराय के लिए इस गोम्मटसार ग्रन्थ की रचना की है, रूपक के रूप में प्रस्तुत किया है–

सिद्धंतुदयतडुग्गय णिम्मलवरणेमिचंदकरकलिया।
गुणरयण भूषणं बुहिवेला भरइ भुवणयलं।। 967।। गो.क.

सिद्धान्तरुपी उदयाचल के तट पर उदित निर्मल नेमिचन्द्र की किरण से युक्त गुणरत्नभूषण अर्थात् चामुण्डराय रूपी समुद्र की यति रूपी वेला भुवनतल को पूरित करे।

यहाँ गुणरत्न भूषणपद चामुण्डराय की उपाधि है। आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्सटसार के मंगलाचरण में गुणरमण भूषणुदय जीवसार परूवण वोच्छ" लिखकर प्रकारान्तर से चामुण्डराय का निर्देशन किया है। अन्य मंगल श्लोको में चामुण्डराय की उपाधियों का उल्लेख किया है।[9]

गोम्मटसार द्वारा स्पष्ट है कि चामुण्डराय ने बाहुबली की प्रतिमा का निर्माण कराया था।[10] पण्डित श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री ने तो स्पष्ट लिखा है कि नेमिचन्द्र और चामुण्डराय समकालीन थे। चामुण्डराय ने ही प्रतिमा का निर्माण कराया था। उनका तो यह भी कहना है कि चामुण्डराय का सम्बन्ध जैसा गोम्सटसार ग्रन्थ के साथ है, वैसा ही श्रवणबेलगोला की मूर्ति के साथ है।[11] हाँ यह अवश्य है कि आचार्य नेमिचन्द्र ने उस उत्तुंग मूर्ति का उल्लेख गोम्मट नाम से नहीं किया। वे अपने द्वारा रचित ग्रन्थ को 'गोम्मटसंग्रहसूत्र' कहते हैं। चामुण्डराय को गोम्मट कहते हैं। चामुण्डराय के द्वारा निर्मित जिनालय को और उसमें स्थापित बिम्ब को गोम्मट शब्द से कहते हैं, किन्तु बाहुबली की मूर्ति को गोम्मट शब्द से नहीं कहते, उसे वह दक्षिण कुक्कुडजिन कहते हैं।[12]

एल.के. श्रीनिवासन ने चामुण्डराय की प्रसिद्धि के कारण को बताते हुए लिखा है– "गंग नरेश मारसिंह द्वितीय और राचमल्ल चतुर्थ का महामत्री चामुण्डराय उस काल का सर्वाधिक प्रतिभा सम्पन्न महापुरुष था। उसके समर्पण का प्रमाण एक प्राकृतिक चट्टान में उसके द्वारा बनवाई गई उस सर्वोच्च प्रतिमा से मिलता है, जिसमें उसने भक्ति की शक्ति को सृष्टि में एकाकार कर दिया है, वहाँ के छह अभिलेख श्रवणवेलगोला के साथ चामुण्डराय के सम्वन्धों को रेखांकित करते हैं। विन्ध्यगिरि पर गोम्मटेश्वर बाहुबली के निर्माण ने उसे इतिहास में प्रसिद्ध कर दिया।"[13]

चामुण्डराय ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये उनसे उनके गुरू श्री नेमिचन्द्राचार्य अत्यधिक प्रसन्न थे, उन्होंने अपने शिष्य को ज्ञान कराने हेतु गोम्मटसार जैसे महान ग्रन्थ की रचना की थी। जीवकाण्ड की मन्द प्रवोधिनी टीका की उत्थानिका में अभयचन्द्र सूरि ने लिखा है–

गंगवश के ललामभूत श्रीमद्राचमल्लदेव के महामात्य पद पर विराजमान और रणांगमल्ल, गुणरत्नभूपण सम्यक्त्वरत्ननिलय आदि विविध सार्थक नामधारी श्री चामुण्डराय के प्रश्न के अनुरूप जीवस्थान नामक प्रथम खण्ड के अर्थसंग्रह करने के लिए गोम्मटसार नाम वाले पचसंग्रह शास्त्र का प्रारम्भ करते हुए मैं नेमिचन्द्र मंगलपूर्वक गाथासूत्र कहता हूँ।[14]

अपने व्यक्तित्व और कर्तृत्व के फलस्वरूप वे अनेक अलंकरणों से मण्डित थे। श्री चामुण्डराय समरधुरन्धर, वीरमार्तण्ड, रणरंगसिंह, वेरिकुलकालदण्ड, राजवाससिवर, समरप्रचण्ड, समरपरशुराम, प्रतिपक्षशत्रु, प्रतिपक्षराक्षस, क्रुडामिक आदि योद्धाओं को पराजित करने से प्राप्त भुजविक्रम आदि उपाधियाँ इनकी भूषण थीं। नैतिक दृष्टि से सम्यक्त्वरत्नाकर शौचाभरण, सत्य युधिष्ठिर और सुभटचूडामणि उपाधियो से भी अलंकृत थे। इतने महान् थे कि उनके गौरव का जितना व्याख्यान किया जाय, वह कम है। उनके कार्यो का भी वर्णन करने में कलम अक्षम है।

श्री चामुण्डराय के काल पर भी विचार करना आवश्यक है। ब्रह्मदेव स्तम्भ पर ई. सन् 974 का एक अभिलेख पाया जाता है और 1184 ई. में गोम्मटेश्वर की मूर्ति के पास में ही द्वारपालकों की बायीं ओर प्राप्त लेख से स्पष्ट है कि गोम्मट स्वामी की पोदनपुर में भरत चक्रवर्ती द्वारा निर्मित करायी गई प्रतिमा के विषय में सुना तो विन्ध्यगिरि पर वर्तमान विद्यमान मूर्ति का निर्माण कराया था। इससे स्पष्ट है कि 1184 ई. से पूर्व चामुण्डराय की प्रसिद्धि हो चुकी थी। इन्होंने "त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण" अपरनाम ''चामुण्डरायपुराण'' की कन्नड़ भाषा में रचना की थी, जिसमें अनेक आचार्यो द्वारा रचित संस्कृत प्राकृत भाषा के श्लोक और गाथाओं को उद्धृत किया है। आर्यनन्दि, पुष्पदन्त, भूतवलि, यतिवृषभ, उच्चारणाचार्य, माघनन्दि शामकुण्ड तेम्बुलूराचार्य, एलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य, सिद्धसेन, समन्तभद्र पूज्यपाद, वीरसेन, गुणभद्र, धर्मसेन, कुमारसेन, नागसेन, चन्द्रसेन, अजितसेन आदि आचार्यो का उल्लेख भी किया है, जिससे स्पष्ट है कि ये मूल परम्परा मान्य हैं, इनके द्वारा चामुण्डरायपुराण शक संवत् 900 ई. सन् 978 में पूर्ण किया गया और 981 ई. सन् में बाहुवली स्वामी की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करायी थी। इससे निश्चित है कि इनका समय दसवीं शती है।

श्री चामुण्डराय ने कन्नड़ और संस्कृत दोनों भाषाओं में ग्रन्थों की रचना की है। कन्नड़ भाषा में लिखित त्रिषष्टिलक्षणपुराण है और संस्कृत में चारित्रसार है। दोनों ही ग्रन्थ वर्ण्य विषय की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण है। त्रिपष्टिलक्षणपुराण में 63 शलाकापुरुषों के जीवन चरित्र को विस्तार के साथ वर्णित किया गया है। यह जातक कथा की शैली में तैयार किया गया है, बहुत महत्त्वपूर्ण है।

चारित्रसार श्रावकों और श्रमणों के आचार का वर्णन करने वाला महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसे चार प्रकरणों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम प्रकरण में सम्यक्त्व और पंचाणुव्रतों का वर्णन है। द्वितीय प्रकरण में सप्तशीलों का विस्तृत विवेचन है। तृतीय प्रकरण में षोडश भावनाओं

का विवरण है। चतुर्थ प्रकरण में अनगार धर्म का सम्पूर्ण वर्णन किया गया है। यह संस्कृत गद्य शैली का अत्युत्तम ग्रन्थ है।

रीडर–संस्कृत विभाग, दि. जैन कॉलेज, बड़ौत

सन्दर्भ–

1. 'जगत्पवित्रब्रह्मक्षत्रियवंशभागे' चा.पु.पृ. 5
2. "सो अजियसेणणाहो जस्स गुरू" गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा 966
3. बाहुबलिचरित्र श्लोक 6
4. अज्जज्जसेण गुणगणसमूह संधारि अजियसेणगुरु।
   भुवणगुरु जस्स गुरू सो राओ गोम्मटो जयऊ।। 733 जीवकाण्ड
   गोम्मट सुत्त लिहणे गोम्मटरायेण या कया देसी।
   सो राओ चिरकालं णामेण य वीरमचडी।। गो.सा.
5. देखो (EC 11) नं 238 पक्ति 16 अग्रेजी सक्षेप का पृ. 98 उद्धृत
   जीवकाण्ड की भूमिका पृ. 14 (पं. कैलाश चन्द शास्त्री)
6. बाहुबली की प्रतिमा गोमेटश्वर क्यों कही जाती है? अनेकान्त-बाहुबली विशेपांक (1980) वर्ष 33 कि. 4 पृ. 39 (आलेख डा. प्रेमचन्द जैन)
7. इसका नाम त्रिषष्टिलक्षण महापुराण (कन्नड़) है।
8. 'बाहुबली' लेखक-जस्टिम मांगीलाल जैन (प्रकाशक दि. जैन मुनि विद्यानन्द शोधपीठ, बड़ौत)
9. नमिऊण णेमिचंदं असहायपरमक्कमं महावीरं।
   णमिऊण वड्ढमाणं कणयणिहं देवरायपरिपुज्जं।। 358।। कर्मकाण्ड
   असहाय जिणवरिंदे असहाय परक्कमे महावीरे।
   णमिऊण णेमिणाहे। सज्जगुहिट्ठिणमंसियंधिजुंग।। 451।। कर्मकाण्ड
   असहायपराक्रम, देवराज, सत्य युधिष्ठिर ये सब नाम चामुण्डराय के हैं।
10. जेणविणिम्मिय पडिमा वयणं सब्वट्ठसिद्धिदेवेहिं।
    सव्वपरमोहि जोगहिं दिट्ठं सो राओ गोम्मटो जयउ।। 969 ।। कर्मकाण्ड
11. गोम्मटसार जीवकाण्ड भूमिका पृ. 14 (पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री)।

12. गोम्मटसंग्गह सुत्तं गोम्मट सिहरूवरि गोम्मट जिणो य।
    गोम्मटराय विणिम्मिय दक्खिणकुक्कुडजिणो जयऊ गो.कर्म. 968

13. "The most illustrious person of this period is Chamundraya, the minister of Ganga Marsingha II and Rachmall IV. He combined in himself the best of the qualities of heroism, learning and devotion, the last one expressed through his determination to carve out the greatest standing monolithic statue from natural rock, blending nature with the universe. Six inscriptions record Chamundraya's connection with Shravana Belagola. He is renowned for the erection of the clossus Commata or Bahubali; on Vindhyagiri in Shravana Belagola."

    L.K. Shriniwasan, Homogo to Shravanabelagola, A Marg Publication 1981, Page 46-47

14. जीवकाण्ड म.प्र.टी. 503

यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दै,
र्यः स्तुयते सर्वनराडमरेन्द्रैः।
यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम्।।

– परमात्म-गीतिका, 12

जो सभी मुनिराजों के समूह द्वारा स्मरण किया जाता है, जो सभी नरेन्द्रों और देवेन्द्रों से स्तुत किया जाता है, जो वेद-पुराण-शास्त्रों के द्वारा गाया जाता है– वह देवाधिदेव (अर्हन्त) मेरे हृदय में विराजमान रहे।

गोम्मट-मूर्ति की कुण्डली

–ज्योतिषाचार्य गोविन्द पै

'श्रवणबेलगोल' के गोम्मट स्वामी की मूर्ति की स्थापना तिथि 13 मार्च, सन् 981 मानी गई है। वस्तुतः सम्भव है कि यह तिथि ही मूर्ति की स्थापना-तिथि हो, क्योंकि भारतीय ज्योतिष के अनुसार 'बाहुबलि चरित्र' में गोम्मट-मूर्ति की स्थापना की जो तिथि, नक्षत्र, लग्न, संवत्सर आदि दिये गये हैं, वे उस तिथि में अर्थात् 13 मार्च, 981 में ठीक घटित होते हैं। अतएव इस प्रस्तुत लेख में उसी तिथि और लग्न के अनुसार उस समय के ग्रह स्पष्ट करके लग्न-कुण्डली तथा चन्द्रकुण्डली दी जाती है और उस लग्न-कुण्डली का फल भी लिखा जाता है। उस समय का पञ्चांग विवरण इस प्रकार है–

श्रीविक्रम स. 1038 शकाब्द 903 चैत्र शुक्ल पचमी रविवार घटी 56, पल 58, रोहिणी नाम नक्षत्र, 22 घटी, 15 पल, तदुपरान्त प्रतिष्ठा के समय मृगशिर नक्षत्र 25 घटी 49 पल, आयुष्मान् योग 34 घटी, 46 पल इसके बाद प्रतिष्ठा समय में सौभाग्य योग 21 घटी, 49 पल।

उस समय की लग्न स्पष्ट 10 राशि, 26 अंश 39 कला और 57 विकला रही होगी। उसकी षड्वर्ग-शुद्धि इस प्रकार है–

10/26/39/57 लग्न स्पष्ट–इस लग्न में गृह शनि का हुआ और नवांश स्थिर लग्न अर्थात् वृश्चिक का आठवां है, इसका स्वामी मंगल है। अतएव मंगल का नवांश हुआ। द्रेष्काण तृतीय तुलाराशि का हुआ जिसका स्वामी शुक्र है। त्रिशांश विषम राशि कुम्भ में चतुर्थ बुध का हुआ और द्वादशांश ग्यारहवां धनराशि का हुआ जिसका स्वामी गुरु है। इसलिय यह षड्वर्ग बना–

(1) गृह–शनि, (2) होरा–चन्द्र, (3) नामवंश–मंगल, (4) त्रिशांश–बुध, (5) द्रेष्काण–शुक्र, (6) द्वादशांश गुरु का हुआ। अब इस बात का विचार करना चाहिए कि षड्वर्ग कैसा है और प्रतिष्ठा में इसका क्या फल है? इस षड्वर्ग में चार शुभग्रह पदाधिकारी हैं और दो क्रूर ग्रह। परन्तु दोनों क्रूर ग्रह भी यहां नितांत अशुभ नहीं कहे जा सकते हैं क्योंकि शनि यहां पर उच्च राशि का है। अतएव यह सौम्य ग्रहों के ही समान फल देने वाला है। इसलिय इस षड्वर्ग में सभी सौम्य ग्रह हैं, यह प्रतिष्ठा में शुभ है और लग्न भी बलवान है; क्योंकि षड्वर्ग की शुद्धि का प्रयोजन केवल लग्न की सवलता अथवा निर्बलता देखने के लिए ही होता है, फलतः यह मानना पड़ेगा कि यह लग्न बहुत ही बलिष्ठ है। जिसका कि फल आगे लिखा जायगा। इस लग्न के अनुसार प्रतिष्ठा का समय सुबह 4 बज कर 38 मिनट होना चाहिए। क्योंकि ये लग्न, नवांशाद की ठीक 4 बज कर 38 मिनट पर ही आते हैं। उस समय के ग्रह स्पष्ट इस प्रकार रहे होंगे।

नवग्रह-स्पष्ट-चक्र

रवि	चन्द्र	भौम	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	राहु	केतु	ग्रह
11	1	2	10	1	0	6	0	6	राशि
24	25	7	2	3	5	6	7	7	अश
43	41	26	58	11	36	13	21	21	कला
14	25	48	51	31	42	59	37	37	विकला
58	782	45	108	4	56	2	3	3	गति
45,	52	37	59	41	52	31	11	11	विगति

यहाँ पर ग्रह-लाघव के अनुसार अहर्गण 478 है तथा चक्र 49 है, करणकुतूहलीय अहर्गण 1235.92 मकरन्दीय 1688329 और सूर्यसिद्धान्तीय 714403984956 है। परन्तु इस लेख में ग्रहलाघव के अहर्गण पर से ही ग्रह बनाए गए हैं और तिथि नक्षत्रादिक के घट्यादि भी इसीके अनुसार हैं।

उस समय की लग्न कुण्डली **उस समय की चन्द्र-कुण्डली**

प्रतिष्ठाकर्त्ता के लिए लग्नकुण्डली का फल सूर्य

जिस प्रतिष्ठापक के प्रतिष्ठा-समय द्वितीय स्थान में सूर्य रहता है वह पुरुष बड़ा भाग्यवान् होता है। गौ, घोड़ा और हाथी आदि चौपाये पशुओं का पूर्ण सुख उसे होता है। उसका धन उत्तम कार्यो में खर्च होता है। लाभ के लिए उसे अधिक चेष्टा नहीं करनी पड़ती हैं। वायु और पित्त से उसके शरीर में पीड़ा होती है।

चन्द्रमा का फल

यह लग्न से चतुर्थ है इसलिए केन्द्र में है साथ-ही-साथ उच्च राशि का तथा शुक्लपक्षीय है। इसलिए इसका फल इस प्रकार हुआ होगा।

चतुर्थ स्थान में चन्द्रमा रहने से पुरुष राजा के यहॉ सबसे बड़ा अधिकारी रहता है। पुत्र और स्त्रियों का सुख उसे अपूर्व मिलता है। परन्तु यह फल वृद्धावस्था में बहुत ठीक घटता है। कहा है–

"यदा बन्धुगोबान्धवैरत्रिजन्मा नवद्वारि सर्वाधिकारी सदैव" इत्यादि–

भौम का फल

यह लग्न से पंचम है इसलिए त्रिकोण में है और पंचम मंगल होने से

पेट की अग्नि बहुत तेज हो जाती है। उसका मन पाप से बिलकुल हट जाता है और यात्रा करने में उसका मन प्रसन्न रहता है। परन्तु वह चिन्तित रहता है और बहुत समय तक पुण्य का फल भोग कर अमर कीर्ति संसार में फैलाता है।

बुधफल

यह लग्न में है। इसका फल प्रतिष्ठा-कारक को इस प्रकार रहा होगा–

लग्नस्थ बुध कुम्भ राशि का होकर अन्य ग्रहों के अरिष्टों को नाश करता है और बुद्धि को श्रेष्ठ बनाता है, उसका शरीर सुवर्ण के समान दिव्य होता है और उस पुरुष को वैद्य, शिल्प आदि विद्याओं में दक्ष बनाता है। प्रतिष्ठा के 8वें वर्ष में शनि और केतु से रोग आदि जो पीड़ाएँ होती हैं उनको विनाश करता है।[1]

गुरुफल

यह लग्न से चतुर्थ है और चतुर्थ बृहस्पति अन्य पाप ग्रहों के अरिष्टों के दूर करता है तथा उस पुरुष के द्वार पर घोड़ों का हिनहिनाना, बन्दीजनों से स्तुति का होना आदि बातें है। उसका पराक्रम इतना बढ़ता है कि शत्रु लोग भी उसकी सेवा करते हैं; उसकी कीर्ति सर्वत्र फैल जाती है और उसकी आयु को भी बृहस्पति बढ़ाता है। शूरता, सौजन्य, धीरता आदि गुणों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।[2]

शुक्रफल

यह लग्न से तृतीय और राहु के साथ है। अतएव इसका फल प्रतिष्ठा के 5वें वर्ष में सन्तान-सुख को देना सूचित करता है। साथ-ही-साथ उसके मुख से सुन्दर वाणी निकलती है। उसकी बुद्धि सुन्दर होती है। उसका

मुख सुन्दर होता है और वस्त्र सुन्दर होते हैं। मतलब यह है कि इस प्रकार के शुक्र होने से उस पूजक के सभी कार्य सुन्दर होते हैं।[3]

शनिफल

यह लग्न से नवम है और इसके साथ केतु भी है, परन्तु यह तुला राशि का है। इसलिए उच्च की शनि हुआ अतएव यह धर्म की वृद्धि करने वाला और शत्रुओं को वश में करता है। क्षत्रियों में मान्य होता है और कवित्व शक्ति, धार्मिक कार्यों में रुचि, ज्ञान की वृद्धि आदि शुभ चिह्न धर्मस्थ उच्च शनि के हैं।

राहुफल

यह लगन से तृतीय है अतएव शुभग्रह के समान फल का देने वाला है। प्रतिष्ठा समय राहु तृतीय स्थान में होने से, हाथी या सिंह पराक्रम में उसकी बराबरी नहीं कर सकते; जगत् उस पुरुष का सहोदर भाई के समान हो जाता है। तत्काल ही उसका भाग्योदय होता है। भाग्योदय के लिए उसे प्रयत्न नहीं करना पड़ता है।[4]

केतु का फल

यह लग्न से नवम में है अर्थात् धर्म-भाव में है। इसके होने से क्लेश का नाश होना, पुत्र की प्राप्ति होना, दान देना, इमारत बनाना, प्रशंसनीय कार्य करना आदि बातें होती हैं। अन्यत्र भी कहा है–[5]

"शिखी धर्मभावे यदा क्लेशनाशः
सुतार्थी भवेन्म्लेच्छतो भाग्यवृद्धिः।" इत्यादि

मूर्ति और दर्शकों के लिए तत्कालीन ग्रहों का फल मूर्ति के लिए फल

तत्कालीन कुण्डली से कहा जाता है। दूसरा प्रकार यह भी है कि चर स्थिरादि लग्न नवांश और त्रिशांश से भी मूर्ति का फल कहा गया है।

लग्न, नवांशादि का फल

लग्न स्थिर और नवांश भी स्थिर राशि का है तथा त्रिशांशदिक भी षड्वर्ग के अनुसार शुभ ग्रहों के हैं। अतएव मूर्ति का स्थिर रहना और भूकम्प, बिजली आदि महान् उत्पातों से मूर्ति को रक्षित रखना सूचित करते हैं। चोर-डाकू आदि का भय नहीं हो सकता। दिन प्रतिदिन मनोज्ञता बढ़ती है और शक्ति अधिक आती है। बहुत काल तक सब विघ्न-बाधाओं से रहित हो कर उस स्थान की प्रतिष्ठा को बढ़ाती है। विधर्मियों का आक्रमण नहीं हो सकता और राजा, महाराजा, सभी उस मूर्ति का पूजन करते हैं। सब ही जन-समुदाय उस पुण्य-शाली मूर्ति को मानता है और उसकी कीर्ति सब दिशाओं में फैल जाती है आदि शुभ बातें नवांश और लग्न से जानी जाती हैं।

चन्द्रकुण्डली के अनुसार फल

वृष राशि का चन्द्रमा है और यह उच्च का है तथा चन्द्रराशि चन्द्रमा से बारहवां है और गुरु चन्द्र के साथ में है तथा चन्द्रमा से द्वितीय मंगल और दसवें बुध तथा बारहवें शुक्र है। अतएव गृहाध्याय के अनुसार गृह 'चिरंजीवी' योग होता है। इसका फल मूर्ति को चिरकाल तक स्थायी रहना है। कोई भी उत्पात मूर्ति को हानि नहीं पहुंचा सकता है। परन्तु ग्रह स्पष्ट के अनुसार तात्कालिक लग्न से जब आयु बनाते हैं तो परमाणु तीन हजार सात सौ उन्नीस वर्ष, ग्यारह महीने और 19 दिन आते हैं।

मूर्ति के लिए कुण्डली तथा चन्द्रकुण्डली का फल उत्तम है और अनेक चमत्कार वहाँ पर हमेशा होते रहेंगे। भयभीत मनुष्य भी उस स्थान में पहुंच कर निर्भय हो जायगा।

इस चन्द्रकुण्डली में 'डिम्भाख्य' योग है। उसका फल अनेक उपद्रवों से रक्षा करना तथा प्रतिष्ठा को बढ़ाना है। कई अन्य योग भी हैं किन्तु विशेष महत्वपूर्ण न होने से नाम नहीं दिये हैं।

प्रतिष्ठा के समय उपस्थित लोगों के लिए भी इसका उत्तम फल रहा होगा। इस मुहूर्त में बाण पंचक अर्थात् रोग, चोर, अग्नि, राज, मृत्यु इनमें से कोई भी बाण नहीं है। अतः उपस्थित सज्जनों को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ होगा। सबको अपार सुख एवं शान्ति मिली होगी।

इन लग्न, नवांश, षड्वर्गादिक में ज्योतिष-शास्त्र की दृष्टि से कोई भी दोष नहीं है प्रत्युत अनेक महत्त्वपूर्ण गुण मौजूद हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में लोग मुहूर्त, लग्नादिक के शुभाशुभ का बहुत विचार करते थे। परन्तु आज कल की प्रतिष्ठाओं में मनचाहा लग्न तथा मुहूर्त ले लेते हैं जिससे अनेक उपद्रवों का सामना करना पड़ता है। ज्योतिष-शास्त्र का फल असत्य नहीं कहा जा सकता; क्योंकि काल का प्रभाव प्रत्येक वस्तु पर पड़ता है और काल की निष्पत्ति ज्योतिष-देवों से ही होती है। इसलिए ज्योतिष-शास्त्र का फल गणितागत बिल्कुल सत्य है। अतएव प्रत्येक प्रतिष्ठा में पञ्चाङ्ग-शुद्धि के अतिरिक्त लग्न, नवांश, षड्वर्गादिक का भी सूक्ष्म विचार करना अत्यन्त जरूरी है।

संदर्भः

1. "बुधो मूर्तिगो मार्जयेदन्यरिष्टं गरिष्ठा धियो वैखरीवृत्तिभाजः।
   जना दिव्यचामीकरीभूतदेहश्चिकित्साविदो दुश्चिकित्स्या भवन्ति।।"
   "लग्ने स्थिताः जीवेन्दुभार्गवबुधाः सुखकान्तिदाः स्युः।"

2. **गृहद्वारतः श्रूयतेवाजिह्रेषा**
   द्विजोच्चारितो वेदघोषोऽपि तद्वत्
   प्रतिस्पर्धितः कुर्वते पारिचर्य
   चतुर्थे गुरौ तप्तमन्तर्गतञ्च।।

चमत्कारचिन्तामणि

सुखे जीवे सुखी लोकः सुभगो राजपूजितः।
विजातारिः कुलाध्यक्षो गुरुभक्तश्च जायते।।

लग्नचन्द्रिका

अर्थ सुख अर्थात् लग्न से चतुर्थ स्थान में बृहस्पति होवे तो पूजक (प्रतिष्ठाकारक) सुखी राजा से मान्य, शत्रुओं को जीतने वाला, कुलशिरोमणि तथा गुरु का भक्त होता है। विशेष के लिए बृहज्जतक 19वां अध्याय देखो।

3. **मुखं चारुभाषं मनीषापि चार्वी मुखं**
चारु चारूणि वासांसि तस्य।

वाराही संहिता

भार्गवे सहजे जातो धनधान्यसुतान्वितः।
नीरोगी राजमान्यश्च प्रतापी चापि जायते।।

—लग्नचन्द्रिका

अर्थ शुक्र के तीसरे स्थान मे रहने से पूजक धन-धान्य, सन्तान आदि सुखों से युक्त होता है। तथा निरोगी, राजा से मान्य और प्रतापी होता है। बृहज्जातक मे भी इसी आशय के कई श्लोक हैं जिनका तात्पर्य यही है जो ऊपर लिया गया है।

4. **न नागोऽथ सिंहो भुजो विक्रमेण**
प्रयातीह सिंहीसुते तत्समत्वम्।
विद्याधर्मधनैर्युक्तो बहुभाषी च भाग्यवान्।। इत्यादि

अर्थ जिस प्रतिष्ठाकारक के तृतीय स्थान में राहु होने से उसके विद्या, धर्म धन और भाग्य उसी समय से वृद्धि को प्राप्त होते है। वह उत्तम वक्ता होता है।

5. **एकोऽपि जीवो बलवांस्तनुस्थः**
सितोऽपि सौम्योऽप्यथवा बली चेत्।
दोषानशेषान्विनिहंति सद्यः
स्कंदो यथा तारकदैत्यवर्गम्।।
गुणाधिकतरे लग्ने दोषेऽत्यल्पतरे यदि।
सुराणां स्थापनं तत्र कर्त्तुरिष्टार्थसिद्धिदम्।।

भावार्थ इस लग्न में गुण अधिक हैं और दोष बहुत कम हैं अर्थात् नहीं के बराबर हैं। अतएव यह लग्न सम्पूर्ण अरिष्टो को नाश करने वाला और श्री चामुण्डराय के लिए सम्पूर्ण अभीष्ट अर्थों को देनेवाला सिद्ध हुआ होगा।

पाठकीय विचार

–डॉ. अनिल कुमार जैन

जनवरी-जून 2005 का 'अनेकान्त' का अंक कई महत्वपूर्ण एवं रोचक विषयों से भरपूर है। आचार्य कुन्दकुन्द के सम्बन्ध में आदरणीय पंडित श्री पद्मचन्द्र शास्त्री जी का लेख व आपका संपादकीय महत्वपूर्ण समाधान प्रस्तुत करता है। डॉ. नन्दलाल जी का एक वाक्य यह कि 'वस्तुतः अनेकांतवादी जैन अपने-अपने पक्ष के एकांतवादी हो गये हैं' अच्छा लगा।

इसी अंक में डॉ. श्रेयांस कुमार जैन का लेख 'आगम की कसौटी पर प्रेमी जी' प्रकाशित हुआ है। इसमें उन्होंने प्रेमी जी के विधवा-विवाह, विजातीय विवाह, तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता सम्बन्धी विचारों को आगम की कसौटी पर कस कर अन्त में एक निष्कर्ष यह भी दिया है कि 'प्रेमी जी एक साहित्यकार और इतिहास विज्ञ सुयोग्य मनीषी अवश्य हैं किन्तु आगम की परिधि में रहकर लेखन करने वाले न होने से उन्हें **आगम का श्रद्धालु** तो नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार डाक्टर साहब ने प्रेमी जी को मिथ्यादृष्टि करार दे दिया है। इन सभी मुद्दों पर विचार करना आवश्यक है।

पिछले कुछ समय से मैं यह महसूस करने लगा हूँ कि हमारे कुछ 'आगम के ज्ञाता' विद्वानों ने लोगों को सर्टिफिकेट देना शुरू कर दिया है कि कौन सम्यक्दृष्टि है और कौन मिथ्यादृष्टि। यदि तर्क पर उनके विचारों की कहीं काट हो रही हो तो तुरन्त कह दो इन्हें आगम का ज्ञान नहीं हैं, इसलिए ऐसा कह रहे हैं, मिथ्यादृष्टि हैं। जैसा कि हम समझते हैं कि कौन सम्यक्दृष्टि है और कौन मिथ्यादृष्टि, यह शायद छद्मस्थों की शक्ति के बाहर है; वस्तुतः इसे तो वीतराग प्रभु ही जान सकते हैं।

छयानवे लाख रानियों से घिरा भरत चक्रवर्ती वासना से मुक्त भी हो सकता है और बिना पत्नी वाला व्यक्ति वासना के प्रति आसक्त हो सकता है। ऊपर-ऊपर से यह निर्णय कर लेना कि कौन क्या है, बहुत मुश्किल है। आगम का प्रकाण्ड ज्ञाता भी घोर मिथ्यात्वी हो सकता है।

विधवा-विवाह और अन्तर्जातीय/विजातीय विवाह की चर्चा नई नहीं है। इसके पक्ष और विपक्ष में लिखा जाता रहा है। लेकिन एक बात हमें अभी तक समझ में नहीं आई है कि विवाह एक आवश्यक धार्मिक कृत्य है या महज सामाजिक कृत्य। यदि यह एक आवश्यक धार्मिक कृत्य है तो भगवान् महावीर सहित पाँच तीर्थकर बालयति क्यों रहे? और यदि यह महज सामाजिक कृत्य है तो इसे देश काल के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में क्यों नहीं देखा जाता है। और यदि यह थोड़ा धार्मिक भी है तो भगवान् महावीर स्वयं बाल ब्रह्मचारी रहकर विवाह सम्बन्धी उपदेश क्यों देते? (कम से कम भगवान् महावीर ने इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है।)

वर्ण और जाति के सम्बन्ध में जैन शास्त्रों में जो कुछ लिखा मिलता है वह वैदिक व ब्राह्मण परम्परा से प्रभावित प्रतीत होता है। इस बात को बहुत से 'आगम के ज्ञाता' विद्वान् स्वीकार नहीं करेंगे।

प्राचीनकाल में आज जैसी व्यवस्था तो थी नहीं कि हर विषय का एक विशेषज्ञ हो- गणित भौतिकी, राजनीति, समाज-शास्त्र आदि पहले जो कुछ भी इन विषयों में लिखा गया वह सब धार्मिक ग्रन्थों का हिस्सा मान लिया गया। यदि इन विषयों पर किसी जैन धर्मावलंबी विद्वान् ने लिखा तो वह 'जैन धर्म' का हिस्सा हो गया। यदि ईसाई ने लिखा तो 'इसाई धर्म' का और हिन्दू ने लिखा तो 'हिन्दू धर्म' का। इन सब बातों को धर्म मान लेने पर उस धर्म की मूल आत्मा आहत होती है।

वर्ण-व्यवस्था, जाति-प्रथा और विवाह आदि जितने भी विपय हैं वे सब समाज-व्यवस्था से सम्बन्धित हैं, धर्म से उनका विशेष कुछ लेना-देना नही है। पहले मात्र मानव था, फिर वर्ण-व्यवस्था स्थापित हुई और उसके

बाद जाति-व्यवस्था। विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह आदि को हमें सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही देखना चाहिए।

यापनीय सम्प्रदाय व उनके शास्त्रों को लेकर भी विद्वानों में हमेशा मतभेद रहे हैं। यदि प्रेमी जी तथा पं. सुखलाल जी 'तत्त्वार्थसूत्र' को यापनीय ग्रन्थ मानते हैं, तथा अन्य दूसरे भी ऐसा मानते हैं, तो इसमें आगम विरुद्ध क्या दिखता है? मतभेद हो सकते हैं। डॉ. श्रेयांस जी लिखते हैं– 'यापनीय सम्प्रदाय द्वारा मान्य स्त्री-मुक्ति आदि सिद्धान्त तत्वार्थ सूत्र में देखने को नहीं मिलते अतः तत्वार्थ सूत्र यापनीय सम्प्रदाय का बिल्कुल भी नहीं माना जा सकता है'। यह तर्क अधिक मजबूत नहीं हैं। यदि तत्वार्थ सूत्र में यह नहीं लिखा है कि स्त्री-मुक्ति सम्भव है, तो यह भी तो नहीं लिखा है कि स्त्री-मुक्ति सम्भव नहीं है।

मेरा मानना है कि इस प्रकार के आलेखों के साथ आपका संपादकीय टिप्पण भी होना चाहिए।

B/26, सूर्यनारायण सोसायटी
विषत पैट्रोल पंप के सामने
साबरमती, अहमदाबाद-380005